

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182693

UNIVERSAL
LIBRARY

काव्यामृत

सरनदाम भनोत एम० ए०

OUP—68—11-1-68—2,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H 81.08**
B5PK Accession No. **H3 639**
Author **ब्रनौत, सरनदास. संयु.**
Title **काठ्याश्रुत. 1955.**

This book should be returned on or before the date
last marked below.

काव्यामृत

(हिन्दी के प्रमुख कवियों की चुनी हुई सरस तथा
सुबोध कविताओं का संग्रह)



सम्पादक

डा० सरनदास भनोत एम. ए., पी. एच. डी.

भूतपूर्व प्राध्यापक तथा अध्यक्ष

संस्कृत-हिन्दी विभाग एफ. सी. कालेज काहौर ;

वर्तमान संपादक पंजाब यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन ब्यूरो, जालन्धर ।

प्रीमियर बुक कम्पनी,

(प्रो० सुलतान चन्द एण्ड सन्स)

नई सड़क, दिल्ली-६

प्रकाशक :—

सुल्तान चन्द एण्ड सन्स,

(प्रो० प्रीमियर बुक कम्पनी)

नई सड़क, दिल्ली-६ ।

नवीन संस्करण : १९५५

मूल्य

दो रुपया चार आना

२।)

मुद्रक :—

ईश्वर चन्द बी० ए०,

स्वतन्त्र भारत प्रेस,

४२३, कूचा बुलाकी बेगम,

एस्प्लेनेड रोड, दिल्ली ।

भूमिका

काव्य-कला का अभ्यास केवल आशयहीन मनोविनोद की सामग्री नहीं। मनोरंजन इस का फल जरूर है किन्तु केवल आनुषङ्गिक। इसका मुख्य उद्देश्य मानव की मंगलमय कल्पनाओं को उत्तेजित करना है, उसकी उदात्त भावनाओं को जागृत करना है, ऐसा हमारा विश्वास है। 'कला कला के लिए' का सिद्धांत एक व्यर्थ और काल्पनिक आदर्श है। इससे उच्च कोटि की इनी-गिनी महान् आत्माओं की परितृप्ति भले ही हो सके जन-साधारण के लिये इसकी कोई उपादेयता नहीं। और भी ; मानव का जीवन स्वल्प है; इसमें पूर्णतया यत्न करने पर भी वह उन वृत्तियों का सन्तोषजनक विकास नहीं कर पाता जो उस के वास्तविक तत्त्वों के निर्माण में योग देने वाली हैं। ऐसी अवस्था में उद्देश्यहीनता से किसी भी अभ्यास में व्यस्त होना उन के हितों के लिए कितना घातक हो सकता है, इसका अनुमान लगाना कठिन है। कविता का तो जन्म ही संसार में इसलिए हुआ है कि वह अभावग्रस्त मानवता के दुःखमय संसार को मधुर बना दे, दुःखों को सुखों का स्वरूप देकर मानवता के हृदय में उसे सानन्द सहन करने की क्षमता भर दे, अभाव को सम्पत्ति में बदल दे। अच्छे कवि और काव्य की हम तो बस यही एक कसौटी समझते हैं।

इसी आशय को ध्यान में रखते हुए हमने अपनी ओर से इस बात का यत्न किया है प्रस्तुत संग्रह में यथासम्भव उन रचनाओं का समावेश किया जाए तो विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण में विशेष रूप से सहायक हों। भाषा और भाव दोनों सुबोध हों, इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है। प्रथम आशय की रक्षा के लिए हमें रीतिकाल के सभी कवियों से चमा मांगनी पड़ी है। रीतिकाल की अनेक रचनाएँ

हमारे साहित्य की अमूल्य और अमर सम्पत्ति हैं; किन्तु मानव-शरीर के बाह्य सौन्दर्य की भित्ति पर जिस ढंग से इनका निमोण हुआ है वह हमारी दृष्टि में कोमल अवस्था के विद्यार्थियों के लिए अधिक उपादेय नहीं। इसी उपादेयतावाद ने हमें कविवर भूषण को भी स्थान न देने पर विवश किया है। इनकी रचनाओं की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में मतभेद नहीं हो सकता। कड़कती हुई भाषा में लिखी हुई ओज से पूर्ण इनकी हृदयस्पर्शी सूक्तियों ने अपने समय के देश और जाति के प्राणों में जिस प्रकार उत्साह और साहस का संचार किया था, उसके लिए आर्य जाति उनका चिरकाल तक आभार स्वीकार करेगी। परन्तु आज ज़माना बदल चुका है। राष्ट्र, राष्ट्रीयता और जाति गौरव के सम्बन्ध में हमारे ही नहीं, विश्वभर के विचारों में परिवर्तन हो चुका है। देश की आज की परिस्थितियों में संघर्ष और कलह के लिए कोई स्थान नहीं। विविध जातियों के अपने अपने अतीत गौरव के गान करने की अपेक्षा आज आवश्यकता है कि उनकी विविध संस्कृतियों के परस्पर सामंजस्य और समन्वय के लिये यत्न किया जाय। इसी से देश के वास्तविक हितों की रक्षा होगी। इसी से सच्चे देश प्रेम की नींव सुस्थिर होगी। इसी प्रेरणा से हम इस संग्रह में साम्प्रदायिकता से पूर्णतया अछूती रचनाओं को ही स्वीकार कर सके हैं। विद्यार्थियों के इन हितों को ध्यान में रखते हुए हम केवल भक्तियुग और आधुनिक युग की प्रमुख धाराओं के प्रतिनिधि कवियों को ही स्थान दे सके हैं।

कधीर भक्तियुग के प्रमुख कवि थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों को धर्म के बाह्य आडम्बर में फंसा देख कर उनकी आत्मा सन्तप्त हो उठी थी। वे समझते थे कि परस्पर कलह का रास्ता देश व जाति के पतन का रास्ता है। इसीलिए उन्होंने मानव-चरित्र के महत्व पर ज़ोर देते हुए धर्म के क्षेत्र में आडम्बर-प्रियता का खण्डन किया और एकेश्वरवाद का प्रचार किया। संघर्षपरायण-दोनों जातियों को

ऐक्योन्मुख करने का यही एक साधन था । वे स्वाभाविक तौर पर निर्गुणोपासना के समर्थक थे । किन्तु सहज में ही इस उपासना मार्ग के कष्ट साध्य होने के कारण जनता इच्छा रहते हुए भी चिरकाल तक इस पर न चल सकी । इसी लिए सगुणोपासना की आवश्यकता हुई । इस कमी को पूरा करने वाले 'सूर' और तुलसी थे । 'सूर' ने कृष्ण की लीलाओं के चित्रण द्वारा भगवान के मनोमुग्धकारी स्वरूप को जनता के सम्मुख उपस्थित किया और तुलसी ने मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम की लीलाओं का कीर्तन कर पथ-भ्रष्ट मानवता को एक आदर्श जीवन और पारिवारिक मर्यादा को सुन्दर झाँकी दिखलाई । इन दो महाकवियों ने अपनी अलौकिक प्रतिभा और अपूर्व काव्य-शक्ति द्वारा हमारे साहित्य का जो शृङ्गार किया है वह हमारे साहित्य-सौभाग्य की अमर सम्पत्ति है । कविवर रहीम की रचनाएं हिन्दू और मुसलिम दोनों संस्कृतियों के परस्पर समन्वय से उत्पन्न होने वाले चमत्कार का उदाहरण हैं ।

हमारी कविता का आधुनिक युग भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ होता है । इनसे पहिले की कविता अधिकांश में शृङ्गारमयी थी । विलासिता के वातावरण में पले हुए रीतिकाल के कवि मानव के बाह्य सौन्दर्य से आगे झाँकने में असमर्थ थे । जीवन की मनोहरता के इन उपासकों की दृष्टि में सौन्दर्य आत्मा की सम्पत्ति न होकर केवल शरीर की सम्पत्ति रह गया था । प्रेम की पवित्र भावना ऐन्द्रिय लोलुपता में बदल गई थी । प्रेम और वासना में कोई अन्तर ही नहीं रह गया था । विषय के साथ-साथ वर्णन भी चमत्कार-शून्य हो चुका था । वही नायक-नायिका के शरीर-सौन्दर्य का वर्णन और उसी पुराने ढंग पर । आखिर साहित्य के पतन की यह दशा कब तक रह सकती थी ? परिवर्तन हुआ और उस के साथ नई-नई प्रवृत्तियों को जन्म मिला । 'भारतेन्दु' इस पुरानी काव्य-पद्धति के प्रति विद्रोह की भावना

लेकर साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। उन्होंने पुरानी लकीर पीटने वाले कवि समाज का ध्यान नवीन और सामयिक विषयों की ओर आकर्षित किया। तब से राष्ट्र, राष्ट्रभाषा, समाज की दशा और उसका सुधार, प्रकृति, मानव और इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध आदि अनेक नये-नये विषय काव्य में आने लगे।

भारतेन्दु के बाद काव्य की भाषा के सम्बन्ध में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की सत्प्रेरणा से और उन्हीं के नेतृत्व में आन्दोलन हुआ, जिसके फलस्वरूप ब्रज-भाषा-काव्य का गति सदैव के लिये धीमी पड़ गई और खड़ी बोली गद्य और पद्य दोनों की समान रूप से एकमात्र भाषा स्वीकार की गई। इस क्रांति के प्रथम प्रवर्तकों में श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और नाथूराम शंकर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'हरिऔध' जी के 'प्रिय-प्रवास' ने तो भाषा, विषय, छन्द और शैली—सभी दृष्टियों से साहित्य क्षेत्र में एक उथल-पुथल मचा दी थी। भाषा को पूर्णतया आधुनिक स्वरूप देने में कविवर मैथिलीशरण गुप्त जी का विशेष हाथ है। गुप्त जी की भाषा और विषय दोनों ही जनसाधारण की कल्पना को उत्तेजना देने में सफल साधन हुए। राष्ट्रीय आर्य-गौरव और देश-प्रेम से सराबोर इन की रचनाओं ने समाज के सम्मुख तुलसी की तरह लोक-संग्रह की भावना से पारिवारिक मर्यादा का सुन्दर स्वरूप उपस्थित किया।

हमारे आधुनिक काव्य की विशेषताओं में रहस्यवाद और छाया-वाद का प्रमुख स्थान है। ये दोनों 'वाद' जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला और सुमित्रानन्दन पंत—इस त्रिमूर्ति की अमर देन हैं। इन दोनोंवादों में परस्पर कोई बहुत भेद नहीं, एक दूसरे का विकास और रूपान्तर है। रहस्यवाद छायावाद से ऊपर की भावना है, उसी का विकसित और उन्नत स्वरूप है। छायावादी कवि प्रकृति और मानव—दोनों में एकरसता का अनुभव करता है। जड़ पदार्थ

में भी मानवी भावनाओं का आरोप कर उनके साथ आत्मीयता का प्रदर्शन करता है। वह ससीम में असीम की और प्रत्यक्ष में परोक्ष की सत्ता का अनुभव करता है, और रहस्यवादी कवि उस परोक्ष सत्ता के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करने का यत्न करता है। परोक्ष के इस मधुर मिलन के लिए वह बेचैन रहता है, अपने हृदय में अभाव, वेदना और व्यथा की ज्वाला लिए फिरता है। छायावादी रचनाओं में गंभीर चिन्तन के साथ-साथ अनुभूति की इस नई धारा के प्रवर्तक होने के अतिरिक्त इन तीनों कवियों ने काव्य की प्रचलित रुढ़ियों के प्रति भी उग्र विद्रोह किया। भावों की नवीनता के साथ-साथ छन्दों की स्वतन्त्रता का भी उद्घोष किया। अतुकान्त कविता जिसका श्रीगणेश संस्कृत के ढंग पर हरिश्चंद्र जी कर चुके थे अब फिर से नवीन मनोरम और चमत्कारपूर्ण वेश में सामने आई। कुछ दिनों तक छन्दों की इस स्वच्छन्दता का विरोध हुआ; परन्तु इन कवियों की मौलिक प्रतिभा और अनूठी काव्य-शक्ति ने धीरे-धीरे आलोचकों को शान्त कर दिया। सियारामशरण गुप्त और महादेवी वर्मा इस धारा के अन्य प्रमुख कवि हैं। सियाराम जी की रचनाएँ गम्भीर दार्शनिकता के साथ साथ भाषा की सरलता लिए हुए हैं; दुरुहता के दोष से पूर्णतया विमुक्त हैं। महादेवी वर्मा जी के काव्य में स्त्री-स्वभाव-सुलभ कोमलता की प्रचुरता है; निराशा और वेदना का जितना मर्मस्पर्शी चित्रण इनकी रचनाओं में ही पाया है, अन्यत्र नहीं। हरिकृष्ण प्रेमी जी भी वेदनाप्रधान कवि हैं। इनकी कविता का जन्म ही करुण वेदना तथा अभाव से हुआ है। इनके काव्य में दुखों को अपना कर सुख प्राप्त करने की सुन्दर दार्शनिकता के दर्शन होते हैं। रहस्यवाद तथा समाज-वाद-सम्बन्धी इनकी रचनाएं काफ़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं। भाषा की सरलता इनकी विशेषता है। हिन्दी में बहुत कम कवि ऐसे हैं जो भाव-गाम्भीर्य के साथ-साथ प्रेमी जी का सरलता को निभा सकते हों।

रूढ़िवाद को पद-दलित कर बुद्धिवाद की स्थापना करने वाले तर्क कुशल कवियों में उदयशंकर भट्ट जी का आदरणीय स्थान है। ये यथार्थवादी हैं। सत्य का जैसा स्वरूप देखते हैं वैसा ही उसका प्रतिपादन करने में विश्वास रखते हैं। ईश्वर का सहारा लिए बिना अपने आप को ऊपर उठाने की मानव की क्षमता में इनका विश्वास अटल है। भगवान ने न आज तक दलितों के लिए कुछ किया है और न भविष्य में उसके कुछ करने की सम्भावना है—ऐसे विचारों ने इनमें संसार के दम्भपूर्ण व्यवहार का केवल पुरुषार्थ से प्रतिकार करने का बल भर दिया है।

इनके अतिरिक्त डा० चर्मा, बच्चन, वियोगी, नवीन, दिनकर, सुधीन्द्र, द्विज, मिलिन्द, अञ्जल, अशक, अज्ञेय, सोहनलाल द्विवेदी आदि अनेक कवि हैं जो अपनी प्रतिभा के अनुसार हिन्दी काव्य-साहित्य का सुन्दर शृङ्गार कर रहे हैं। इच्छा रखते हुए भी स्थानाभाव से हम इनकी रचनाओं को पाठकों के सम्मुख नहीं रख सके, इसका हमें खेद है।

अन्त में उन सब कवियों का मैं आभार स्वीकार करता हूँ जिनकी रचनाओं का मैंने इस संग्रह में प्रयोग किया है।

सरनदास मनोत

विषय-सूची

	पृष्ठ संख्या		पृष्ठ संख्या
१—कवीर		यमुना-वर्णन	... ४७
परिचय	...	भारत-दुर्दशा	... ४८
साखी	...	फूट	... ५१
शब्द	...	६—अयोध्यासिंह उपाध्याय	
२—सूरदास		परिचय	... ५२
परिचय	...	श्रीकृष्ण का गोकुल-गमन	५४
भजन	...	कर्मवीर	... ५७
३—तुलसीदास		फूल और काँटा	... ६०
परिचय	...	समय का फेर	... ६१
भरत-कौशल्या सम्वाद	...	७—मैथिलीशरण गुप्त	
वसिष्ठ जी का भरत से राज्य		परिचय	... ६४
ग्रहण करने का अनुरोध	...	शिक्षा की अवस्था	... ६६
लक्ष्मण की मूर्छा पर राम		मातृ-भूमि	... ६८
का विषाद	...	माँ कह एक कहानी	... ७१
शबरी से भेंट	...	कैकेयी का परिताप	... ७४
दोहे	...	कुणाल का त्याग	... ७७
४—रहीम		विश्वप्रेम	... ७८
परिचय	...	पुरुष हो, पुरुषार्थ करो...	७९
दोहे	...	८—जयशङ्कर प्रसाद	
५—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र		परिचय	... ८१
परिचय	...	महाराणा का महत्त्व	... ८३
करुणा-सरिता	...	किरण	... ८५
भक्ति-हठ	...	पतझड़ समीर	... ८६
गङ्गा-वर्णन	...	अव्यवस्थित	... ८७

	पृष्ठ संख्या		पृष्ठ संख्या
आदेश	... ८८	१२—उदयशङ्कर भट्ट	
१—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'		परिचय	... ११६
परिचय	... ८६	अध्यात्महीन जीवन	... ११८
प्रभाती	... ६१	जीवन-पथ	... ११६
भारत की विधवा	... ६२	आज जगत् की उथल	
भिन्नक	... ६३	पुथल में	... १२२
उद्बोधन	... ६४	मेरा बचपन	... १२४
उत्साह	... ६५	जीवन-मॉकी	... १२५
महत्वाकांक्षी	... ६६	अमृत और विष	... १२७
१०—सुमित्रानन्दन पन्त		उद्बोधन	... १२६
परिचय	... ६७	१३—महादेवी वर्मा	
कामना	... ६६	परिचय	... १३०
मूक संदेश	... ६६	अभिमान	... १३१
सुख-दुख	... १००	मुरझाया फूल	... १३१
दुःख की देन	... १०१	दीपक से	... १३२
जीवन का अधिकारी	... १०२	उलझन	... १३४
छाया	... १०३	गीत	... १३५
११—सियारामशरण गुप्त		१४—हरिकृष्ण प्रेमी	
परिचय	... १०५	परिचय	... १३६
सुजीवन	... १०७	पङ्क्ति की पीड़ा	... १३८
पूजन	... १०८	रक्षा-बन्धन	... १४२
शंख-नाद	... १०६	गीत	... १४५
यात्री	... ११३	शब्द-कोश	... १४६
घट	... ११४		

कबीर

भक्ति काव्य की निर्गुणधारा के कवियों में कबीर का स्थान बहुत ऊँचा है। रक्ष्यवादी कवियों में ये सर्वप्रधान और सर्वप्रथम माने जाते हैं। इनकी जीवन-कथा के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से बहुत कम मालूम है। जनश्रुति के अनुसार यह बात प्रचलित है कि इनका जन्म काशी की एक विधवा ब्राह्मणी से हुआ था। वह लांकनिन्दा के भय से नवजात शिशु को 'लहरतारा' तालाब के समीप छोड़ आई। भाग्य-वश नीरु नाम का जुलाहा अपनी पत्नी नीमा के साथ उस मार्ग से गुजरा। नवजात शिशु का इस दशा में पड़े देख कर इस दम्पति का हृदय दया से द्रवित हो उठा। वे बालक को उठा कर घर ले आए और उस का पालन पोषण किया। यही बालक आगे चल कर महात्मा कबीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इनका जन्म सम्वत् १४१६ और मृत्यु सम्वत् १५७१ में मानी जाती है ॥

कबीर का युग धर्मान्धता कट्टरता और संघर्ष का युग था। हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्म की वास्तविक सत्ता से विमुख होकर केवल आडम्बर-प्रियता को ही धर्मतत्त्व समझने लगे थे। परस्पर प्रेम और

॥१. “चौदह सौ पचपन साल गण, चन्द्र बार एक ठाठ ठण ।
जेठ सुदी वर साइत को पूरनमासी प्रगट भण ॥”

२. “संवत् पन्द्रहसौ पछजरा, कियो मगहर को गवन
माघ सुदी एकादसी, रत्नौ पवन में पवन ॥”

शान्ति का साधन न होकर धर्म केवल विद्वेष और अशान्ति का कारण हो रहा था। ऐसे युग में एक ऐसे व्यक्तिविशेष की आवश्यकता थी, जो बिरफुटौवल पर तुली हुई दोनों जातियों को परस्पर प्रेम और सहिष्णुता का सदुपदेश दे सके। कबीर ने इस अभाव को पूरा किया। ये हिन्दू-मत और इस्लाम दोनों की गहराई तक पहुँच चुके थे; आचार्य रामानन्द और शेखतकी के सम्पर्क से इन्होंने दोनों का बहुत अच्छी तरह परिशीलन किया था। ये दोनों धर्मों के मूलतत्वों की एकता में विश्वास रखते थे—राम और रहीम में पूर्ण अभेद का अनुभव करते थे। जाति-पाँति के बन्धनों से इन्हें घोर घृणा थी। मूर्तिपूजा, बहुदेवोपासना आदि में इनकी आस्था नहीं थी। नमाज़ और रोज़े की उपादेयता में इनका विश्वास शिथिल था। हिंसा से इन्हें बहुत नफ़रत थी। ये आचरण की सरलता, निर्व्याजता तथा शुद्धि में अटल विश्वास रखते थे। अहिंसा और हिन्दू-मुसलिम एकता के ये सबब पक्षपाती थे—ये हैं धर्म सम्बन्धी इनके विचार, ये हैं इनकी कविता के अमर संदेश। कौन नहीं जानता कि घृणा और विद्वेष की ज्वाला में जलती हुई आज की मानवता इस संदेश के लिए कितना तड़प रही है।

अपने हाथ से इन्होंने कुछ नहीं लिखा। इनकी जितनी वाणी मिलती है वह सब इनके शिष्यों द्वारा संग्रहीत अथवा लिखित हैं। यों तो 'सुख निधान', 'गोरख नाथ की गोष्ठी', 'रामानन्द की गोष्ठी', होली, रेखता, बारहमासा, रमैनी, साखी, चाँचर आदि छोटे-छोटे अनेक ग्रन्थ इनके नाम से प्रसिद्ध हैं, परन्तु 'बाजक' और 'आदि ग्रन्थ' नाम के पद-संग्रहों का कबीर-पंथियों में विशेष आदर है।

निरचर होते हुए भी कबीर एक आदरणीय कवि थे। इनकी कविता में परिष्कृतता भले ही न हो, किन्तु उसमें स्वाभाविकता, सरलता, गम्भीरता तथा अनुभूति की प्रचुर मात्रा है और एक सफल काव्य के लिए यही चीज़ें अपेक्षित हैं।

साखी--

आदि नाम पारस अहै मन है मैला लोह ।
परसत ही कंचन भया छूटा बंधन मोह ॥ १ ॥
जबहि नाम हिरदे धरा भया पाप का नास ।
मानो चिनगी आग की परी पुरानी घास ॥ २ ॥
नाम बिना बेकाम है छप्पन कोटि विलास ।
का इन्द्रासन बैठियो का बैकुण्ठ निवास ॥ ३ ॥
लूट सकै तो लूट ले सत्त नाम की लूट ।
पाछे फिर पड़ताहुगे प्राण जाहि जब छूट ॥ ४ ॥
जब लग नाता जगत का तब लग भक्ति न होय ।
नाता तोड़े हरि भजै भक्त कहावे सोय ॥ ५ ॥
कामी क्रोधी लालची इनतें भक्ति न होय ।
भक्ति करे कोई सूरमा जाति वरन कुल खोय ॥ ६ ॥
लगी लगन छूटे नहीं जीभ चांच जर जाय ।
मीठा कहा अंगार में जाहि चकोर चबाय ॥ ७ ॥
प्रेम न वाड़ी ऊपजै प्रेम न हाट बिकाय ।
राजा परजा जेहि रुचे सीस देय लै जाय ॥ ८ ॥
छिनहि चढ़ै छिन ऊतरै सो तो प्रेम न होय ।
अबट प्रेम पिंजर बसै प्रेम कहावे सोय ॥ ९ ॥
जब मैं था तब गुरु नहीं अब गुरु हैं हम नाहि ।
प्रेम गली अति सांकरि तामैं दोउ न समाहि ॥ १० ॥

जा घट प्रेम न सचरै सो घट जान मसान ।
 जैसे खाल लोहार की साँस लेत बिनु प्रान ॥ ११ ॥
 हरि से तू जनि हेत कर कर हरिजन से हेत ।
 माल मुलुक हरि देत हैं हरिजन हरिहि देत ॥ १२ ॥
 दुख में सुमिरन सब करें सुख में करें न कोय ।
 जो सुख में सुमिरन करे तो दुख बाहे को होय ॥ १३ ॥
 सुमिरन सो मन लाइए जैमे नाद कुरंग ।
 कइ कबीर विसरै नहीं प्रान तजै तेहि संग ॥ १४ ॥
 माला फेरत जुग भया फिरा न मन का फेर ।
 कर का मनका डारि दे मन का मनका फेर ॥ १५ ॥
 माला तो कर में फिरे जीभ फिरे मुख माहि ।
 मनुवां तो दहुँ दिसि फिरै यह तो सुमिनर नाहि ॥ १६ ॥
 साधू गांठ न बांधई उदर समाता लेय ।
 आगे पीछे हरि खड़े जब मांगे तब देय ॥ १७ ॥
 अंतरजामी एक तुम, आतम के आधार ।
 जो तुम छोड़ो हाथ तो, कौन उतारे पार ॥ १८ ॥
 मेरा मुक्त में कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर ।
 तेरा तुक्त को सौंपते क्या लागत है मोर ॥ १९ ॥
 गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागौं पांय ।
 बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय ॥ २० ॥
 बलिहारी गुरु आपने घड़ि घड़ि सौ सौ बार ।
 मानुष से देवत किया करत न लागी बार ॥ २१ ॥
 कबिरा ते नर अंध हैं गुरु को कहते और ।
 हरि रूठे गुरु ठौर है गुरु रूठे नहि ठौर ॥ २२ ॥

कबिरा हरि के रूठते गुरू के सरने जाय ।
 कह कबीर गुरू रूठते हरि नहिं होत सहाय ॥ २३ ॥
 सब बन तां चन्दन नहीं सूर का दल नाहिं ।
 सब समुद्र मोति नहीं यों साधू जग माहिं ॥ २४ ॥
 साध कहावन कठिन है, लंबा पेड़ खजूर ।
 चढ़ै तो चाखे प्रेम रस गिरे तो चकनाचूर ॥ २५ ॥
 गांठी दाम न बांधई नहिं नारी सां नेह ।
 कह कबीर ता साध की हम चरनन की खेह ॥ २६ ॥
 वृत्त कबहुँ नहिं फल भखे नदी न संचै नीर ।
 परमारथ के कारन साधुन धरा सरीर ॥ २७ ॥
 जाति न पूछो साध की पूछि लीजिए ज्ञान ।
 मोल करो तरवार का पड़ा रहन दो म्यान ॥ २८ ॥
 साधू भूखा भाव का धन का भूखा नाहिं ।
 धन का भूखा जो फिरे सो तो साधू नाहिं ॥ २९ ॥
 केसन कहा बिगारिया जो मूँडो सो बार ।
 मन को क्यों नहीं मूँडियो जा में विषय विकार ॥ ३० ॥
 कबिरा संगत साध की ज्यों गंधी की बास ।
 जो कुछ गंधी दे नहीं तौ भी बास सुबास ॥ ३१ ॥
 मथुरा भावै द्वारिका भावै जा जगनाथ ।
 साध संगति हरि भजन बिनु कछु न आवै हाथ ॥ ३२ ॥
 कबिरा गर्व न कीजिये काल गहे कर केस ।
 न जाने कित मारिहै क्या घर क्या परदेस ॥ ३३ ॥
 पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात ।
 देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात ॥ ३४ ॥

रात गँवाई सोय कर दिवस गँवाया खाय ।
 हीरा जनम अमोल था कौड़ी बदले जाय ॥ ३५ ॥
 दुर्लभ मानुष जनम है देह न बारंबार ।
 तरवर ज्यों पत्ता भड़े बहुरि न लागे डार ॥ ३६ ॥
 आये हैं सो जाएँगे राजा रंक फकीर ।
 एक सिंघासन चढ़ि चले इक बँधि जात जंजार ॥ ३७ ॥
 इक दिन ऐसा होयगा कोउ काहू को नाहि ।
 घर की नारी को कहै तन की नारी नाहि ॥ ३८ ॥
 जो तो को कांटा बुवै ताहि बोव तू फूल ।
 तोहि फूल को फूल हैं वाको हैं तिरसूल ॥ ३९ ॥
 दुर्बल को न सताइए जाकी मोटी हाय ।
 बिना जीव की स्वांस से लोह भसम है जाय ॥ ४० ॥
 ऐसी बानी बोलिए मन का आपा खोय ।
 औरन को सीतल करै आपहुँ सीतल होय ॥ ४१ ॥
 मांगन मरन समान है मति कोई मांगो भीख ।
 मांगन ते मरना भला यह सत-गुरु की सीख ॥ ४२ ॥
 मधुर वचन है औपधा कटुक वचन है तीर ।
 स्रवन द्वार हं सचरै सालै सकल सरीर ॥ ४३ ॥
 न्हाया धोया क्या भया जो मन मैल न जाय ।
 मीन सदा जल में रहे धोय बास न जाय ॥ ४४ ॥
 पंडित और मसालची दोनों सूझै नाहि ।
 औरन को करें चांदना आप अन्धेरे माहि ॥ ४५ ॥
 कुटिल वचन सब से बुरा जाति करै तन छार ।
 साध वचन जलरूप है वरसै अमृत धार ॥ ४६ ॥

तिनका कबहुँ न निदिऐ जो पांव न तर होय ।
 कबहुँ उडि आखिन परे पीर घनेरी होय ॥ ४७ ॥
 दोष पराया देख करि चलै हसंत हसंत ।
 अपने याद न आवई जाको आदि न अन्त ॥ ४८ ॥
 सीलवंत सबतें बड़ा सब रतनन की खानि ।
 तीन लोक की संपदा रही सील में आनि ॥ ४९ ॥
 ज्ञानी ध्यानी संजमा दाता सूर अनेक ।
 जपिया तपिया बहुत है सीलवंत कोउ एक ॥ ५० ॥
 छिमा बड़न को चाहिए छोटन को उत्पात ।
 कहा विष्णु को घटि गया जो भृगु मारी लात ॥ ५१ ॥
 जहाँ दया तहँ धर्म है जहाँ लोभ तहँ पाप ।
 जहाँ क्रोध तहँ काल है जहाँ छिमा तहँ आप ॥ ५२ ॥
 जो जल बाढ़ै नाव में घर में बाढ़ै दाम ।
 दोऊ हाथ उलीचिए यही सज्जन को काम ॥ ५३ ॥
 हाड बड़ा हरि भजन कर द्रव्य बड़ा कछु देय ।
 अकल बड़ी उपकार कर जीवन का फल येह ॥ ५४ ॥
 चाह गई चिता मिटी मनुवाँ बेपरवाह ।
 जिन को कछू न चाहिये सोई साहंसाह ॥ ५५ ॥
 गोधन गजधन बाजिधन और रतनधन खान ।
 जब आवै सन्तोष धन सब धन धूरि समान ॥ ५६ ॥
 धीरे धीरे रे मना धीरे सब कुछ होय ।
 माली सींचै सौ घड़ा ऋतु आये फल होय ॥ ५७ ॥
 कबिरा धीरज के धरे हाथी मन भर खाय ।
 टूक एक के कारने स्वान घरै घर जाय ॥ ५८ ॥

जिन दूँढा तिन पाइया गहरे पानी पैठि ।
 मैं बपुरा बृढ़न डरा रहा किनारे बैठि ॥ ५६ ॥
 मारग चलते जो गिरै बाको नहीं दोस ।
 कह कबीर बैठा रहै ता सिर करड़े कोस ॥ ६० ॥
 दया भाव हिरदे नहीं ज्ञान कथै बेहद ।
 ते नर नरकहि जाहिगे सुनि सुनि साखी सचद ॥ ६१ ॥
 दया कोन पर कीजिए का पर निर्दय होय ।
 साँई के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय ॥ ६२ ॥
 साँच बराबर तप नहीं भूठ बराबर पाप ।
 जाके हिरदे साँच है ता हिरदे गुरु आप ॥ ६३ ॥
 मन के मते न चालिये मन मते अनेक ।
 जो मन पर असवार है सो साधू कोइ एक ॥ ६४ ॥
 ऐसी गति संसार की ज्यों गाडर की ठाट ।
 एक पड़ी जेहि गाढ़ में सबै जाँय तेहि बाट ॥ ६५ ॥
 सुख के माथे सिल परै नाम हिरदे से जाय ।
 बलिहारी वा दुःख की पल पल नाम रटाय ॥ ६६ ॥
 करु बहियाँ बल आपनी छाँड़ बिरानी आस ।
 जाके आँगन नदी है सो कस मरै पिआस ॥ ६७ ॥
 एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाय ।
 जो तू सेवै मूल को फूलै फलै अघाय ॥ ६८ ॥

शब्द—

(१)

बीत गये दिन भजन बिना रे ।

बाल अवस्था खेल गँवायौ, जब जवानि तब मान किया रे ॥
लाहे कारन मूल गँवायौ, अजहुँ न मिटी तेरे मन की तृषा रे ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, पार उतरि गये सन्त जना रे ॥

(२)

यह संसार कागद की पुड़िया, बूँद पड़े धुल जाना है ॥
यह संसार काँट की बाड़ी, उत्तम पुलक मर जाना है ।
यह संसार झाड़ औ' झाँखर, आग लगे बरि जाना है ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है ।

(३)

मन लागो मेरो यार फकीरी में ।

जो सुख पावों नाम भजन में, सो सुख नाहिं अमीरी में ॥
भला बुरा सब को सुनि लीजै, कर गुजरान गरीबी में ।
प्रेम नगर में रहनि हमारी, भलि बनि आइ सबूरी में ॥
हाथ में कूँडी बगल में सोटा, चारों दिसा जगीरी में ।
आखिर यह तन खाक मिलैगा, कहा फिरत मगरूरी में ॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, साहिव मिलै सबूरी में ।

(४)

नाम सुमरि, पछतायगा ।

पापी जियरा लोभ करत है, आज काल्हि उठि जायगा ॥
लालच लागी जनम गवाया, माया, भरम भुलायगा ।
धन जोवन का गरव न कीजै, कागद ज्यों गलि जायगा ॥
जब जम आय केस गहि पटकै, ता दिन कछु न बसायगा ।
सुमिरन भजन दया नहि कीन्हीं, तो मुख चाटा खायगा ॥
धरमराय जब लेखा मांगै, क्या मुख ले के जायगा ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, साध-संग तरि जायगा ॥

(५)

पानी बिच मीन पियासी ।

मोहि सुनि-सुनि आवत हाँसी ॥

आतम ग्यान बिना सब सूना, क्या मथुरा क्या कासी ।
घर में बसतु धरी नहि सूझै, बाहर खोजत जासी ॥
म्रिग की नाभि माँहि कसतूरी, बन बन फिरत उदासी ।
कह कबीर सुनो भाई साधो, सहज मिलै अविनासी ॥

(६)

लोका मति का भोरा रे ।

जौ कासी तन तजै कबीरा, तौ रामहि कहा निहोरा रे ॥
तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा ।
ज्यूं जल में पैसि न निकसै, यूं दुरि मिल्या जुलाहा ॥
राम भगति पर जाको हित चित, ताको अचरज काहा ।
गुरु प्रसाद, साध की संगति, जग जीतै जाइ जुलाहा ॥
कहै कबीर सुनहु रे संतो, भरमि परें जनि कोई ।
जस कासी तस मगहर ऊसर, हिरदै राम सति होई ॥

सूरदास

भक्ति-काल की सगुणधारा के कृष्ण भक्त कवियों में सूरदास का स्थान अद्वितीय है। ब्रजभाषा की प्राणप्रतिष्ठा करने वाले महान् कलाकारों में इन का आसन सर्वोच्च है। इनका जन्म १५४० में आगरा-मथुरा सड़क पर रणकता नाम के गाँव में हुआ था और मृत्यु सं० १६२० में पारासोली गाँव में। ये सारस्वत ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम रामदास था। घर में लक्ष्मी का कोप था—माता-पिता निर्धन थे। कुछ विद्वान् इन्हें 'चन्दवरदाई' के बंशज भाट मानते हैं।

सूरदास जी प्रज्ञाचक्षु थे। ये जन्म से अन्धे थे, ऐसा स्वीकार करने में कुछ आपत्ति जान पड़ती है; इनके अपने द्वारा चित्रित किए हुए प्रकृति के विविध रूपों और रंगों के सजीव चित्र इस बात की पुष्टि नहीं करते। एक युवती के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाने पर इन्होंने अपने आप पर अस्यन्त ग्लानि का अनुभव किया था और इसके फलस्वरूप नेत्रों को दोषी ठहराते हुए उन्हें फोड़ लिया था—यह प्रसिद्धि कुछ अधिक संगत जान पड़ती है।

लगभग ४० वर्ष की आयु में इन्होंने महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य की शिष्यता स्वीकार की। उन दिनों ये एक विरक्त साधु के रूप में आगरा और मथुरा के बीच 'गऊ घाट' पर रहा करते थे। आचार्य जी ने इनकी भक्ति और प्रतिभा देखकर भागवत के आधार पर भगवान् श्रीकृष्ण की पुण्य लीलाओं को पदों में गाने का इन्हें आदेश किया। 'सूरसागर' गुरुवर की इसी पुण्यप्रेरणा का परिणाम है। भक्ति और प्रेम के इस अनूठे काव्य में भागवत के दशम स्कन्ध की कथा का वर्णन अस्यन्त

विस्तार में किया गया है, शेष स्कन्धों के कथानक की ओर केवल एक संक्षिप्त संकेत है। मुख्य रूप से इसमें कृष्ण-जन्म से लेकर उन के मथुरा जाने तक की ही कथा का वर्णन है। इस विशाल काव्य की पदसंख्या सवा लाख के लगभग मानी जाती है, किन्तु उपलब्ध पदों की संख्या ५-६ हजार से अधिक नहीं। 'सूरसागर' के अतिरिक्त 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' नाम की दो रचनाएँ भी इनके नाम पर प्रसिद्ध हैं।

सूरदास जी भक्त-कवि थे। अपने दृष्ट देव की लीलाओं का कीर्तन करते समय ये अपने आप को बिल्कुल खो देते थे। इनकी भाषा की सरलता और भावमयता इसी तन्मयता की अपूर्व देन है। अधिकांश में इन की कविता वात्सल्य, शृंगार और शान्त रस प्रधान है। बाललीला और मातृहृदय का जैसा सुन्दर चित्रण हमें इनकी कविता में मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं। श्री वियोगी हरि के शब्दों में यदि इनका दूसरा नाम वात्सल्यरस ही रख दिया जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। शृंगार में अधिकतर इन्होंने विप्रलम्भ का वर्णन किया है। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की विरह-दशा का चित्रण अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है। उद्धव और गोपियों के संवाद में तो मानो कवि ने अपना हृदय खोल कर रख दिया है। यहाँ हमें कवि की सुन्दर कल्पना और अनूठी दार्शनिकता के दर्शन होते हैं। भक्ति और योग की तुलना पढ़ने योग्य चीज़ है।

भजन—

(१)

अब मोहि भीजत क्यों न उबारो ?

दीनबन्धु करुनामय स्वामी, जन के दुख निवारो ॥
ममता घटा मोह की बूढ़ें, सरिता मैं अपारो ।
बूढ़त कतहुँ थाह नहिं पावत गुरुजन ओट अधारो ॥
गरजत क्रोध लोभ को नारो, सूक्त कहुँ न उतारो ।
वसना-तड़ित चमक छन-ही-छन अहर्निश यह तन जारो ॥
यह सब जल कलि मलहि गहे है बोरत सहस्र प्रकारो ।
'सूरदास' पतितन का संगी विरदहि, नाथ, संभारो ॥

(२)

प्रभु, मेरे औगुन न बिचारौ ।

धरि जिय लाज सरन आये की रवि-सुत-त्रास-निवारौ ॥
जो गिरिपति मसि घोरि उदधि में लै सुरतरु निज हाथ ।
समकृत दोष लिखैं वसुधा भरि तऊ नहीं मिति नाथ ॥
कपटी कुटिल कुचाल, कुदरसन अपराधी मतिहीन ।
तुमहि समान और नहिं दूजो जाहिं भजौ ह्वे दीन ॥
जोग जग्य जप तप नहिं कीन्हौ, वेद विमल नहिं भाख्यौ ।
अति रस लुब्ध स्वान जूठनि व्यौ अनतैं ही मन राख्यौ ॥
जिहिं-जिहिं जोनि फिरौ संकट बस तिहिं-तिहिं यहै कमायौ ।
काम-क्रोध-मद लोभ प्रसित ह्वै बिषै परम विष खायौ ॥

अखिल अनन्त दयालु दयानिधि अवमोचन सुखरासि ।
भजन-प्रताप नाहिं मै जान्यौ, बंध्यौ काल को फाँसी ॥
तुम सर्वग्य सबै विधि समर्थ, असरन-सरन मुरारि ।
मोह-समुद्र सूर वृद्धत है लीजें भुजा पसारि ॥

(३)

सबै दिन गये विषय के हेत ।

देखत ही आपुन-पौ खोयो केस भये सब सेत ॥
रुन्ध्यो स्वाँस मुख बैन न आवत चन्द्रा लगी संकेत ।
तजि गंगोदक पिये कूप-जल पूजत गाड़े प्रेत ॥
करि प्रसाद गोविन्द बिसारे बूझ्यौ सबनि समेत ।
'सूरदास' कछु खरच न लागतु कृष्ण सुमिरि किन लेत ॥

(४)

छाँड़ि मन हरि विमुखन को संग ।

जिनके संग कुबुद्धि उपजति है परत भजन में भंग ॥
कहा होत पय पान कराये विष नहिं तजत भुजंग ।
कागहि कहा कपूर चुगाये स्वान न्हवाये गङ्ग ॥
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूपण अङ्ग ।
गज को कहा न्हवाये सरिता बहुरि धरै खहि छंग ॥
पाहन पतित बाण नहिं बंधत रीतो करत निषंग ।
'सूरदास' खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग ॥

(५)

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ।

जैसे उड़ि जहाज को पंखी पुनि जहाज पै आवै ॥
कमलनैन को छाँड़ि महातम और देव को ध्यावै ।
परम गङ्ग को छाँड़ि पियासौ दुर्मति कूप खनावै ॥

जिन मधुकर अबुज-रस चारुयो क्यों करील-फल खावै ।
 'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै ॥

(६)

सोभित कर नवनीत लिये ।
 घुटुरुनि चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किये ॥
 चारु कपोल लोल लोचन छवि गौरोचन का तिलक दिये ।
 लट लटकन मानो मत्तमधुप गन माधुरी मधुर पिये ॥
 कटुला कण्ठ बज्र केहरि नख राजत हैं सखि रुचिर हिये ।
 धन्य 'सूर' एकौ पल यह सुख कहा भयो सत कल्प जिये ॥

(७)

मैया कबहि बड़ेगी चोटी ।
 किती बार मोहि दूध पियत भइ यह अजहूं है छोटी ॥
 तू जो कहति बल की बेनी ज्यां हूँ है लांबी मोटी ।
 काढ़त गुह्त नहावत ओछत नागिन सी भवैं लोटी ।
 काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी ।
 'सूर'स्याम चिरजीवो दोऊ भैया हरि हलधर की जोटी ॥

(८)

खेलन अब मेरी जात बलैया ।
 जबहि मोहि देखत लरिकन संग तबहि खिभत बल भैया ॥
 मोसों कहत तात बसुदेव को देवकी तेरी मैया ।
 मोल लियो कछु दे बसुदेव को करि करि जतन बढ़ैया ॥
 अब वाचा कहि कहत नन्द को जसुमति को कहै मैया ।
 ऐसे कहि सब मोहिं खिजावत तब उठि चलो खिसैया ॥

पाछे नन्द सुनत हैं ठाढ़े हँसत हँसत उर लैया ।
‘सूर’ नन्द बलरामहि धिरयो मुनि मन हरख कन्हैया ॥

(६)

मैया मेरी मैं नहिं माखन खायो ।
भोर भयो गैयन के पीछे मधुवन मोहि पठायो ॥
चार पहर बंसीबट भटकयो साँझ परे घर आयो ।
मैं बालक बंहीन को छोटा छींछो किहि बिध पायो ॥
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं बरबस मुख लपटायो ।
तू जननी मति की अति भारी इनके कहे पति पायो ॥
जिय तेरे कछु भेद उपज है जान परायो जायो ।
यह ले अपनी लकुटि कमरिया बहुतहि नाच नचायो ॥
‘सूरदास’ तब बिहसि जसोदा लै उर कण्ठ लगायो ।

(१०)

आज मैं गाय चरावन जैहौं ।
वृन्दावन के भाँति भाँति फल अपने कर मैं खैहौं ॥
ऐसी अबहिं कहौं जनि वारे देखौं अपनी भाँति ।
तनिक तनिक पग चलिहौं कैसे आयत है है राति ॥
प्रात जात गैयां लै चारन घर आवत है साँझ ।
तुमरो कमल बदन कुम्हिलैहै रेंगत घामहिं साँझ ॥
तेरी सौं मोहिं घाम न लागत भूख नहीं कछू नेक ।
‘सूरदास’ प्रभु कहो न मानत परे आपनी टेक ॥

(११)

मैया, बहुत बुरो बलदाऊ ।
कहन लग्यौ, ‘वन बड़ा तमासो सब मौंढा मिलिआऊ’ ॥
मोहूँ को चुचकारि गयौ ले जहां सघन बन भाऊ ।

भागि चलयो कहि गयो वहाँ तें काट खाइ रे हाऊ ॥
 हौं डरपौं अरु रोवौं, कांपौं, कोउ नहि धीर-धराऊ ।
 उनके संग न भाजि सकौं, वे भाजे जात अगाऊ ॥
 मोसों कहत चोर तू कान्हा, आपु कहावत साहू ।
 'सूरदास' बल बड़ौ चबाई, तैसेहि मिले सखाहू ॥

(१२)

मैया, मोहिं दाऊ बहुत खिजायौ ।

मोसों कहत मोल कौ लीन्हौं, तू जसुमति कव जायौ ॥
 कहा कहौं, इहि रिस के मारे खेलन हौं नहि जात ।
 पुनि-पुनि कहत कोन है माता, को है तेरो तात ॥
 गोरे नन्द जसोदा गोरी तू कत स्याम सरीर ।
 चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर ॥
 तू मोही को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीमै ।
 मोहन-मुख रिस की यह बाटै, जसुमति सुनि-सुनि रीमै ॥
 सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत ।
 'सूर' स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत ॥

(१३)

जसोदा कान्ह कान्ह कै बूझै ।

फूटि न गई तिहारी चारों कंसे मारग सूझै ॥
 इक तनु जरा जात बिन देखे, अब तुम दीनों फूंक ।
 यह छतियां मेरे कुँवर कान्ह बिनु फटि न गईं द्वै दूक ॥
 धिग तुम, धिग ये चरन अहो पति, अध-बोलत उठि धाये ।
 'सूर' स्याम-बिछुरन की हम पै देन बधाई आये ॥

(१४)

ऊधो, मन नाहिं दस-बीस ।

एक हुतो सो गयौ स्याम संग को अवराधै ईस ॥
 सिथिल भई सवहीं माधो बिनु जथा देह बिनु सीस ।
 स्वासा अटकि रही आसा लागि जीवहिं कोटि बरीस ॥
 तुम तौ सखा स्यामसुन्दर के, सकल जोग के ईस ।
 'सूरदास' रसिक की बतियां पुरवौ मन जगदीस ॥

(१५)

अखियां हरि-दरसन की भूखी ।

कैसे रहैं रूप-रस राँची ये बतियाँ सुनि रूखी ॥
 अवधि गनत इकटक मग जोवत तब ये तौ नहिं भूखी ।
 अब इन जोग संदेसनि ऊधो, अति अकुलानो दूखी ॥
 बारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पय पिवत पतूखी ।
 'सूर' जोग जनि नाव चलावहु ये सरिता हैं सूखी ॥

(१६)

ऊधो हमहिं कहा समभावहु ।

पसु, पंखी सुरभी ब्रज की सब देख स्रवन सुनि आवहु ॥
 तृन न चरत गो, पिवत न सुत पय, दूँ डत बन बन डोलैं ।
 अलि कोकिल जे आदि विहंगम, भीत, भयानक बोलैं ॥
 जमुन भई तन स्याम, स्याम बिनु, अन्ध छीन जे रोगी ।
 तरुवर पत्र वसन न सँभारत, बिरह बृच्छ भये योगी ॥
 गोकुल के सब लोग दुखित हैं, नीर बिना ज्यों मीन ।
 'सूरदास' प्रभु प्रान न छूटत, अवधि आस के लीन ॥

(१७)

ब्रज के विरही लोग दुखारे ।

बिन गोपाल ठगे-से ठाढ़े अति दुबल तनु कारे ॥
 नन्द-जसोदा मारग जोवत नित उठि सांभ सकारे ।
 चहुँ दिशि कान्ह-कान्ह कै टेरत असुवन बहत पनारे ॥
 गोपी गाइ ग्याल गा-मुत सब अतिही दीन विचारे ।
 'सूरदास' प्रभु बिन यौ सोभित चन्द्र बिना ज्यौ तारे ॥

(१८)

प्रीति करि काहूँ सुख न लह्यौ ।

प्रीति पतङ्ग करी दीपक सों, आपै देह दह्यौ ॥
 अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों, संपुट माँझ गह्यौ ।
 सारंग प्रीति जो करी नाद सों, सनमुख बान सह्यौ ॥
 हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यौ ।
 'सूरदास' प्रभु बिनु दुख-पावति नैननि नीर बह्यौ ॥

तुलसीदास

तुलसीदास जी हिन्दी साहित्य के प्रतिनिधि कवि हैं। जनता के हृदय पर जितना अधिकार इन्हें प्राप्त हुआ है उतना भारत के किसी कवि को नहीं।

इन का जन्म सम्वत् १५८६ में बाँदा ज़िले के राजापुर नाम के गाँव में हुआ था। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसीॐ था। जनश्रुति के अनुसार इन का जन्म एक अमंगल नक्षत्र में हुआ था जिसके कारण इनके माता-पिता ने इनके पालन-पोषण में बहुत उपेक्षा की। कुछ बड़ा होने पर ये बाबू नरहरिदास जी के सम्पर्क में आ गए और उन्हीं के पास काशी में पंचगंगा धाम पर रहने लगे। यहाँ इन्होंने उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् महात्मा शेष सनातन जी के चरणों में बैठ कर १५ वर्ष तक खूब विद्याभ्यास किया और वेद, वेदान्त, दर्शन, इतिहास, पुराण आदि अनेक विषयों में सुयोग्यता प्राप्त की। इसके बाद ये अपनी जन्मभूमि राजापुर को लौटे। वहाँ 'रत्नावली' नाम की एक सुशील और सुयोग्य कन्या से इनका विवाह हुआ। पत्नी में इन को बड़ी आसक्ति थी। एक बार वह इन से बिना पूछे अपने पिता के यहाँ चली गई, ये भी उसके पीछे सुसराल पहुँच गए। लज्जित हो रत्नावली ने इन्हें फटकार सुनाते हुए कहा:—

लाज न लागत आपको दौरे आएहु साथ ।

धिक् धिक् ऐसे प्रेम को कहा कहाँ मैं नाथ ॥

ॐ सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहत अस होय ।

गोद लिए हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय ॥

रहीम

अस्थि-चर्म-मय देह मम ता में जैसी प्रीति ।

तैसी लौ श्रीराम मँह होति न तौ भवभीति ॥

पत्नी की फटकार इनके लिए वरदान साबित हुई । इसने इनकी जीवन दशा को बिल्कुल बदल दिया । इनके प्रेम की धारा संसार के विषयों से विमुक्त होकर अब भगवान् के चरणों की ओर बहने लगी । इस प्रकार विरक्त हो जाने पर इन्होंने कई वर्ष तक तीर्थ भ्रमण किया और फिर स्थायी रूप से काशी में रहने लगे । सम्बत् १६८० श्रावण श्यामा तीज को असी गंगा के संगम पर इन्होंने अपने शरीर का त्याग किया ॥

‘रामचरितमानस’ इन की सब से प्रसिद्ध और श्रेष्ठ रचना है । इसमें जनता के आराध्यदेव मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम की लीलाओं का मनोरम चित्रण है । इसी कारण से जनता के हृदय में ‘मानस’ के प्रति धर्मग्रन्थ का-सा आदर है । साहित्यिक दृष्टि से भी यह वृत्तद् ग्रन्थ काव्य-कला का अनूठा चमस्कार है । इसमें कवि ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा द्वारा मानवी जीवन के व्यापक सौन्दर्य और उस की मर्यादा का हृदय-हारी वर्णन किया है, प्राकृतिक सौन्दर्य, प्रकृति और मानव के परस्पर समन्वय का मनोहर चित्र खींचा है । जीवन का कोई पहलू ऐसा नहीं जिस पर इस महान् कलाकार ने अपनी सुलझी हुई कूची का प्रयोग न किया हो ।

इसके अतिरिक्त इन्होंने और भी अनेक काव्यों की रचना की है । उस में से मुख्य ये हैं:—विनयपत्रिका, बरवै रामायण, गीतावली, रामाज्ञा, कृष्णगीतावली, दोहावली, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, कवितावली, वैराग्य-सन्दीपनी, रामलीला नहछू आदि ।

॥संवत् सरोह सौ असी असी गंग के तीर ।

श्रावण श्यामा तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर ॥

वेनीमाधवदास

भरत-कौशल्या-सम्वाद

भरतहि देखि मातु उठि धाई ।
मुरुद्धित अवनि परी भई आई ॥
देखत भरतु बिकल भए भारी ।
परे चरन तनदसा विसारी ॥
मातु तात कहँ देहि देखाई ।
कहँ सिय रामु लपनु दोउ भाई ॥
कइकइ कत जनमी जग माँझा ।
जौ जनमित भइ काहे न बाँझा ॥
कुलकलंकु जेहि जनमेउ मोहि ।
अपजस-भाजन प्रिय-जन-द्रोही ॥
को त्रिभुवन मोहि सरिस अभागी ।
गति असि तोरि मातु जेहि लागी ॥
पितु सुरपुर, बन रघुबर-केतू ।
मैं केवल सब अनरथ हेतू ॥
धिग मोहि भयेउँ बेनु बन-आगी ।
दुसह-दाह -- दुख -- दूपन--भागी ॥
मातु भरत के बचन मृदु सुनि पुनि उठी सँभारि ।
लिये उठाइ लगाइ उर लोचन मोचति बारि ॥
सरल सुभाय माय हिय लाए ।
अतिहित मनहुं राम फिरि आए ॥

भेंटेउ बहुरि लपन लघु-भाई ।
 सोकु सनेहु न हृदय समाई ॥
 देखि सुभाउ कहब सब कोई ।
 राममातु अस काहे न होई ॥
 माता भरतु गोद बैठारे ।
 आँसु पोंछि मृदु वचन उचारे ॥
 अजहुँ बच्छु, बलि धीरज धरहू ।
 कुसमउ समुझि सोक पारहरहू ॥
 जनि मानहु हिय हानि गलानी ।
 काल-करम-गति अघटित जानी ॥
 काहुहि दोस देहु जनि ताता ।
 भा मोहि सब विधि वाम विधाता ॥
 जो एतेहु दुख मोहि जिआवा ।
 अजहुँ को जाने का तेहि भावा ॥
 पितु आयसु भूपन वसन तात तजे रघुवीर ।
 त्रिसमउ हरष न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर ॥
 मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू ।
 सब कर सब विधि कर पारतोषू ॥
 चले बिपिन सुनि सिय संग लागी ।
 रहैं न राम-चरन-अनुरागी ॥
 सुनतहि लपनु चले उठि साथी ।
 रहहि न जतन किये रघुनाथा ॥
 तब रघुपति सब ही सिरु नाई ।
 चले संग सिय अरु लघु भाई ॥

राम लपनु सिय बनहिं सिधाये ।

गयऊं न संग न प्रान पठाये ॥

एहु सबु भा इन्ह आँखिन्ह आगे ।

तउ न तजा तनु जीव अभागे ॥

मोहि न लाज निज नेहु निहारी ।

राम सरिस सुत मैं महतारी ॥

जिअइ मरइ भल भूपति जाना ।

मोर हृदय सत-कुजिस-समाना ॥

कौसल्या के बचन सुन भरतसहित रनिवासु ।

व्याकुल बिलपत राजगृह मानहुँ सोक-निवासु ॥

बिलपहिं बिकल भरत दोउ भाई ।

कौसल्या लिये हृदय लगाई ॥

भाँति अनेक भरतु समुभाये ।

कहि विवेकमय वचन सुनाये ॥

भरतहु मातु सकल समुभाई ।

कहि पुरान श्रुति कथा सुझाई ॥

छल विहीन सुचि सरल सुबानी ।

बोले भरत जोरि जुग पानी ॥

जे अघ मातु पिता सुत मारें ।

गाइगोठ महि सुर पुर जारें ॥

जे अघ तिय बालक बध कीन्हे ।

मीत महीपत माहुर दीन्हें

जे पातक उपपातक अहहीं ।

करम वचन मन भव कवि कहहीं ॥

ते पातक मोहि होहु बिधाता ।

जौं एहु होइ मोर मत माता ॥

जे परिहरि हरि-हर-चरन भजहिं भूनगन घोर ।

तेहि कै गति मोहि देउ विधि जौं जननी मत मोर ॥

बेचहिं बेदु धरम दुहि लेहीं ।

पिसुन पराय पाप कहि देहीं ॥

कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी ।

वेदबिदूषक बिस्वबिरोधी ॥

लोभी लंपट लोलुपचारा ।

जे ताकहिं परधनु परदारा ॥

पावौं मैं तिन्ह कै गति घोरा ।

जौं जननी एहु संमत मोरा ॥

जे नहिं साधुसंग अनुरागे ।

परमारथ - पथ बिमुख अभागे ॥

जे न भजहि हरि नरतनु पाई ।

जिन्हहिं न हरि-हर सुजसु सुहाई ॥

तजि श्रुतिपन्थ बामपथ चलहीं ।

बंचक धिरचि बेपु जगु छलहीं ।

तिन्ह कै गति मोहि संकर देऊ ।

जननी जौं एहु जानौ भेऊ ॥

मातु भरत के वचन सुनि सांचे सरल सुभाय ।

कहति रामप्रिय तात तुम्ह सदा वचन मन काय ॥

राम प्रान ते प्रान तुम्हारे ।

तुम्ह रघुपतिहिं प्रान तैं प्यारे ॥

बिधु बिष चवै सबै हिमु आगी ।
 होइ बारिचर बारिविरागी ॥
 भए ज्ञान बरु मिटै न मोहू ।
 तुम्ह रामहिं प्रतिकूल न होहू ॥
 मत तुम्हार एह जो जग कहहीं ।
 सो सपनेहुँ सुखु सुगति न लहहीं ॥
 अस कहि मातु भरतु हिय लाए ।
 थनपय सबहिं नेयन जल छाए ॥

वसिष्ठजी का भरत से राज्य-ग्रहण करने का अनुरोध—

तात बिचारु करहु मन माहीं ।
 सोचुजोगु दसरथु नृपु नाहीं ॥
 सोचिअ विप्र जो वेद विहीना ।
 तजि निज धरमु विषय-लवलीना ॥
 सोचिअ नृपति जो नीति न जाना ।
 जेहि न प्रजा प्रिय प्रानसमाना ॥
 सोचिअ बयसु कृपन धनवानू ।
 जो न अतिथि सिबभगति सुजानू ॥
 सोचिअ सूद विप्र--अवमानी ।
 मुखरु मानप्रिय ज्ञान गुमानी ॥
 सोचिय पुनि पतिबंचक नारी ।
 कुटिल कलह-प्रिय इच्छा-चारी ॥
 सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई ।
 जो नहिं गुरु आयसु अनुसरई ॥

सोचिअ गृही जां मोहवस, करै करम-पथ त्याग ।

सोचिअ जती प्रपंचरत, बिगत बिबेक बिराग ॥

बैषानस सोइ सोचन जोगू ।

तपु बिहाइ जेहि भावै भोगू ॥

सोचिय पिसुन अकारन क्रोधी ।

जननि-जनक गुरु-बन्धु-विरोधी ॥

सब बिधि सोचिअ पर-अपकारी ।

निज तनुपोषक निरदय भारी ॥

सोचनीय सब ही बिधि सोई ।

जो न छाँड़ि छतु हरिजन होई ॥

सोचनीय नहिं कोसलराऊ ।

भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ ॥

भयेउ, न अहै, न अत्र होनिहारा ।

भूप भरत जस पिता तुम्हारा ॥

बिधि हरि हरसुपति दिसि नाथा ।

वरनहिं सब दसरथ-गुन-गाथा ॥

कहहु तात केहि भाँति कोउ, करहि बड़ाई तासु ।

राम लपन तुम सत्रुहन, सरिस सुअन सुचि जासु ॥

सब प्रकार भूपति बड़भागी ।

बादि बिषादु करिअ तेहि लागी ॥

एहु सुनि समुक्ति सोचु परिहरहू ।

सिर धरि राजरजायसु करहू ॥

राय राजपदु तुम्ह कहूँ दीन्हा ।

पितावचनु फुरा चाहिअ कीन्हा ॥

तजे रामु जेहि बचनहिं लागी ।
 तनु परिहरंउ रामावरहागी ॥
 नृपहि बचन प्रिय, नहिं प्रिय प्राना ।
 करहु तात पितु बचन प्रवाना ॥
 करहु सीस धरि भूपरजाई ।
 है तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई ॥
 परसुराम पितु अग्या राखी ।
 मारी मानु, लोग सब साखी ॥
 तनय जजातिहि जौबनु दयेऊ ।
 पितु अग्या अघ अजसु न भयेऊ ॥

अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालिहिं पितुबचन ।
 ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति-अयन ॥

अवसिनरेस बचन फुर करहू ।
 पालहु प्रजा, सोक परिहरहू ॥
 सूरपुर नृपु पाइहि परितोषू ।
 तुम्ह कहँ सुकृतु सुजसु. नहिं दोषू ॥
 बेद बिदित संमत सबही का ।
 जेहि पितु देइ सो पावै टीका ॥
 करहु राजु परिहरहू गलानी ।
 मानहु मोर बचन हित जानी ॥
 सुनि सुखु लहव राम-बैदेही ।
 अनुचित कहव न पंडित केही ॥
 कौसल्यादि सकल महतारी ।
 तेऊ प्रजासुख होहिं सुखारी ॥

मरम तुम्हारे राम कर जानिहि ।
 सो सब विधि तुम्ह सन भल मानिहि ॥
 सौंपेहु राजु राम के आए ।
 सेवा करेहु सनेह सुहाए ॥

लक्ष्मण की मूर्छा पर राम का विषाद—

उहाँ राम लछिमनहिं निहारी ।
 बोले बचन मनुज अनुहारी ॥
 अर्धरात्रि गइ कपि नहिं आवा ।
 राम उठाइ अनुज उर लावा ॥
 सकहु न दुखित देखि मोहिं काऊ ।
 बन्धु सदा तव मृदुल सुभाऊ ॥
 मम हित लागि तजेहु पितु माता ।
 सहेउ विपिन हिम आतप बाता ॥
 सो अनुराग कहाँ अब भाई ।
 उठहु न सुनि मम बचबिकलाई ॥
 जौं जनत्यों बन बंधु बिछोहू ।
 पिता बचन मनत्यों नहिं ओहू ॥
 सुत बित नारि भवन परिवारा ।
 होहिं जाहिं जग बारहिं बारा ॥
 असविचारि जिय जागहु ताता ।
 मिलै न जगत सहोदर भ्राता ॥
 जथा पंख बिनु खग अति दीना ॥
 मनि बिनु फनि करिवर करहीना ॥
 अस मम जिवन बंधु बिनु तोही ।
 जौं जड़ दैव जियावै मोही ॥

जैहौँ अवध कवन मुँह लाई ।
 नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई ॥
 बरु अपजसु सहत्यो जग माहीं ।
 नारि हानि विसेष छति नांही ॥
 अब अवलोकु सोकु सुत तोरा ।
 सहिहि निठुर कठोर उर मोरा ॥
 निज जननी के एक कुमारा ।
 तात तासु तुम प्राणअधारा ॥
 सौँपैसि मोहि तुम्हहि गहि पानी ।
 सब बिधि सुखद परम हित जानी ॥
 उतरु काह दैहौँ तेहि जाई ।
 उठि किन मोहि सिखावहु भाई ॥
 बहु बिधि सोचत सोच-बिमोचन ।
 स्रवत सलिल राजिव-दललोचन ॥
 उमा एक अखंड रघुराई ।
 नरगति भगतकृपालु देखाई ॥
 प्रभु विलाप सुनि कान विकल भए बानर निकर ।
 आइ गयेउ हनुमान, जिमि करुना महुँ वीर रस ॥



शवरी से भेंट

शवरी सोइ उठी, फरकत बाम बिलोचन बाहु ।
 सगुन सुहावने सूचत मुनि-मन-अगम उछाहु ॥
 मुनि-अगम उर आनंद, लोचन सजल, तनु पुलकावली ।
 तन-पर्नसाल बनाइ, जन भरि कलम, फल चाहन चली ॥
 मंजुल मनोरथ कति, मुभिरति विप्र वरवानी भली ।
 ज्यों कल्प-बेलि सभलि सुकृत सुफूल-फूली सुख फली ॥१॥
 प्रान प्रिय पाहुने ऐहैं राम लपन मेरे आजु ।
 जानत जन जिय की मृदु चित राम गरीबनिवाजु ॥
 मृदु चित गरीबनिवाज आजु विराजिहैं गृह आइकै ।
 ब्रह्मादि संकर गौरि पूजित पूजिौ अब जाइकै ॥
 लाह नाथ हौं रघुनाथ-वानो पतितपावन पाइकै ।
 दुहुँ ओर लाहु अघाइ तुलसी तीसरेहु गुन गाइकै ॥२॥
 दोना रुचिर रचे पूरन कन्द मूल फल फूल ।
 अनुपम आमियहु तें अंबक अबलोकत अनुकूल ॥
 अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंभ हित सब आनकै ।
 सुन्दर सनेह सुधा सदस जनु सरस राखे सानिकै ॥
 छन भवन, छन बाहर बिलोकति पंथ भू पर पानिकै ।
 दोउ भाइ आये शवरिका के प्रेम-पन पहिचानिकै ॥३॥
 सवन सुनत चली आवत देखि लपन रघुराउ ।
 सिथिल सनेह कहै, है सपना बिवि कैधों सति भाउ ॥
 सति भाउ कै सपनो ? निहारि कुमार कोसलराय के ।
 गहे चरन जे अघहरन नत-जन-बचन मानसकाय के ॥
 लघु भाग भाजन उदधि उमग्यो लाभसुख चित चाय कै ।
 सो जननि ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भाय के ॥४॥

प्रेम पट पाँवड़े देत सुअरघ बिलोचन-बारि ।
 आसलम लै दिए आसन पंकज पाँय पखारि ॥
 पद-पंकजात पखारि पूजे पंथस्रम-बिरहित भये ।
 फल फूल अंकुर मूल धरे सुधारि भरि दोना नये ॥
 प्रभु खात पुलकित गात, स्वाद सराहि आदर जनु जये ।
 फल चारिहू फल चारि दहि पर चारि फल सबरी दये ॥५॥

सुमन वरषि हरषे सुर, मुनि मुदित सराहि सिंहात ।
 केहि रुचि केहि लुधा सानुज माँगि माँगि प्रभु स्नात ॥
 प्रभु खात माँगत, देति सबरी राम भागी जाग के ।
 पुलकत प्रसंसत सिद्ध सिव सनकादि भाजन भाग के ॥
 बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल साग के ।
 सुनु समुक्ति तुलसी जानु रामहि बस अमल अनुराग के ॥६॥

रघुवर अँचइ उठे सबरी करि प्रनाम करि जोरि ।
 हौं बलि बलि गई पुरई मजु मनोरथ मोरि ॥
 पुरई मनोरथ स्वारथहु परमारथहु पूरन करी ।
 अघ अवगुनहि की कोठरी करि कृपा मुदमंगल भरी ॥
 तापस किरातिनि कोल मृदु मूरति मनोहर मन धरी ।
 सिर नाइ आयसु पाइ गवने परमनिधि पाले परी ॥७॥

सियसुधि सब कही नख सिख निरख निरख दोउ भाइ ।
 दै दै प्रदच्छिना करति प्रनाम न प्रेम अवाइ ॥
 अति प्रीति मानस राखि रामहि, राम-धामहि सो गई ।
 तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल अंजलि दई ॥
 तुलसी भनित सबरी-प्रनति, रघुवर प्रकृति करुनामई ।
 गावत सुनत समुक्त भगति हिय होय प्रभु पद नित नई ॥८॥

दोहे—

रे मन ? सब सों निरस ह्वै, सरस राम सों होहि ।
 भलो सिखावन देत है, निस दिन तुलसी तोहि ॥ १ ॥

तुलसी श्री रघुबीर तजि करै भरोसो और ।
 सुख संपति की कहा चली, नरकहु नाहीं ठौर ॥ २ ॥

बरषा का गोबर भयो, को चहै, को करे प्रीति ?
 तुलसी तू अनुभवहि अब, राम विमुख की रीति ॥ ३ ॥

तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार ।
 राग न रोष न दोष दुख, दास भये भव पार ॥ ४ ॥

तुलसी रामहु तैं अधिक, रामभक्त जिय जान ।
 अनिया राजा राम भे, धनिक भये हनुमान ॥ ५ ॥

बिन विस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहि न राम ।
 रामकृपा बिनु सपनेहुँ, जीव न लह विश्राम ॥ ६ ॥

अवसर कौड़ी जो चुकै, बहुरि दिये क्या लाख ।
 दुइज न चन्दा देखियं, उदौ कहा भरि पाख ॥ ७ ॥

तुलसी अपनो आचरन, भलो न लागत कासु ।
 तेहि न बसात जो खात नित, लहसुनहू को बासु ॥ ८ ॥

तुलसी जे कीरति चहहिं, पर की कीरति खोइ ।
 तिनके मुँह मसि लागिहै, मिटिहि न मरिहैं धोइ ॥ ९ ॥

परद्रोही, परदार-रत, परधन पर-अपवाद ।
 ते नर पाँवर पाप-मय, देह धरे मनुजाद ॥ १० ॥

सारदूल को स्वांग कर, कूकर की करतूति ।
 तुलसी तापर चाहिए, कीरति विजय विभूति ॥ ११ ॥

पेट न फूलत बिनु कहे, कहत न लागे ढेर ।
 सुमति बिचारे बोलिये, समुझि कुफेर-सुफेर ॥१२॥
 सूर समर करनी करहि, कहि न जनावहि आपु ।
 विद्यमान रन पाय रिपु, कायर करहिं प्रलापु ॥१३॥
 तुलसी सो समरथ सुमति, सुकृती, साधु, सयान ।
 जो बिचारि व्यवहरइ जग, खरच लाभ अनुमान ॥१४॥
 दीरघ रोगी, दारिदी, कटु वच, लोलुप लोग ।
 तुलसी प्रान समान तउ, होहि निरादर जोग ॥१५॥
 सत्र सयानो नलिल ज्यों, राख सीस रिपुनाउ ।
 बूझत लखि, पग डगत लखि, चपरि चहुँ दिसि धाउ ॥१६॥
 सरनागत कहँ जे तजहि, निज अनहित अनुमानि ।
 ते नर पाँवर पापमय, तिनहिं विलोकत हानि ॥१७॥
 तुलसी पावस के समय, धरी कोकिलन मौन ।
 अब तो दादुर बोलिहैं, हमें पूछिहै कौन ॥१८॥
 तुलसी रुन्त सुअम्ब तरु, फूलि फरहि पर-हेत ।
 इतते ये पाहन हनत, उतते वे फल देत ॥१९॥
 निये पीठि पाछे लगै, सनमुख होत पराय ।
 तुलसी संपति छाँह ज्यों, लखि दिन बैठि गंवाय ॥२०॥

रहीम

हिन्दी काव्य के सुसज्जमान कलाकारों में 'रहीम' का आदरणीय स्थान है। इनका पूरा नाम अब्दुर्रहीम खानखाना था। ये मुगल सम्राट् अकबर के इतिहास-प्रसिद्ध अभिभावक बैरमखान के सुपुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६११ में लाहौर में हुआ था और मृत्यु दिल्ली में संवत् १६८३ में। चार वर्ष की अल्पावस्था में इनके पिता का देहान्त हो गया। तदनन्तर सम्राट् अकबर ने इन्हें अपने आश्रय में ले लिया और इनके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा आदि का सन्तोषजनक प्रबन्ध कर दिया। इस राजसी आश्रय से इन्होंने पूरा-पूरा लाभ उठाया, और थोड़े ही वर्षों में अरबी, फारसी, तुर्की, संस्कृत तथा हिन्दी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। राजनैतिक विषयों के अध्ययन में इन्हें विशेष रुचि थी। इनका विवाह खाने आज्ञम मिर्जा अज़ीज़ कोकलताश की बहिन मोहबानू बेगम से हुआ था।

सम्राट् को इनकी नीतिज्ञता, व्यवहार-कुशलता, तथा स्वामी-भक्ति पर अत्यन्त विश्वास था। संवत् १६३३ में ये गुजरात के सूबेदार नियुक्त किए गए। गुजरात में उन दिनों अशान्ति का राज्य था। चारों ओर विद्रोह फैला हुआ था। अपनी नीति और पराक्रम के बल से इन्होंने बहुत जल्द उस अशान्ति को दूर कर दिया। इससे इनकी नीति-कुशलता की धाक बैठ गई। इसके बाद समय-समय पर विद्रोह दमन के लिए ये अनेक प्रान्तों में नियुक्त किए गए। इस प्रकार राज्य-क्षेत्र में इन्होंने विशेष उन्नति की और सेनानायक और प्रधान मन्त्री के प्रतिष्ठित पद तक पहुँचे।

जीवन-सन्ध्या में सम्राट् जहांगीर से कुछ अनशन हो जाने के कारण इन्हें बहुत कष्टों का सामना करना पड़ा; पर अन्त में सब मामला साफ हो जाने पर सम्राट् ने इन्हें निर्दोषी ठहराते हुए फिर से बहाल कर दिया ।

साहित्य में इनकी प्रवृत्ति अच्छल थी । राज-कार्यों में सदैव व्यस्त रहने पर भी साहित्य सेवा के लिए ये समय निकाल ही लेते थे । बाबर के आत्मचरित का इन्होंने तुर्की से फ़ारसी में अनुवाद किया । हिन्दी में इन्हें ब्रज और अवधी दोनों पर अधिकार प्राप्त था । अपनी कविता में इन्होंने दोनों का प्रयोग किया है । खड़ी बोली में भी इनकी रचना मिलती है । रवै नायिका भेद, मदनाष्टक, शृंगार, सोरठा, रहीम सतसई आदि अनेक रचनाएँ इनके नाम से प्रसिद्ध हैं । इनकी कविता में भीति और ज्ञान की मात्रा अधिक है । कविता की भाषा सरल और सुन्दर है ।

‘रहीम’ असली शब्दों में साहित्यिक थे । ये स्वयं लिखते थे और लिखने वालों की क़दर करते थे । समय के मुख्य साहित्यिकों से इनका परिचय था । तुलसीदास जी के प्रति इनके हृदय में अद्भुत श्रद्धा थी । कवि गंग का ये बड़ा मान करते थे । कहते हैं केवल दो छन्दों पर प्रसन्न होकर इन्होंने उसे ३६ लाख का इनाम दिया था । इस प्रकार धन, मानादि प्रदान कर विद्वानों का प्रोत्साहन किया करते थे ।

दोहे—

तू रहीम मन आपुनो, कीन्हों चारु चकोर ।
निसि बासर लागा रहै, कृष्णचन्द्र की ओर ॥ १ ॥
सब कोऊ सब सों करै, राम जुहार सलाम ।
हित अनहित तब जानिए, जा दिन अटके काम ॥ २ ॥
रहिमन कबहुँ बड़ेन के, नाहिं गर्व कर लेस ।
भार धरे संसार को, तऊ कहावत सेस ॥ ३ ॥
कहि रहीम सम्पति सगे, बनत बहुत बहु रीत ।
बिपत कसौटी जे कसे, सोई सांचे मीत ॥ ४ ॥
ससि सँकोच साहस सलिल, मान सनेह रहीम ।
बढ़त बढ़त बढ़ि जात हैं, घटत घटत घटि सीम ॥ ५ ॥
कौन बड़ाई जलधि मिलि, गंग नाम भो धीम ।
केहि की प्रभुता नहीं घटी, पर घर गए रहीम ॥ ६ ॥
जेहि रहीम तन-मन लियो, कियो हिये बिच भौन ।
तासौ सुख दुख कहन की, रही बात अब कौन ॥ ७ ॥
अमी गियावत मान बिनु, रहिमन मोहि न सुहाय ।
मान सहित मरिबो भलो, जो बिस देय बुलाय ॥ ८ ॥
कदली सीप भुजङ्ग मुख, स्वाति एक गुन तीन ।
जैसी संगति बैठिए, तैसोई फल दीन ॥ ९ ॥
माँगे मुकुरिन को गयो, केहि न त्यागियो साथ ।
माँगत आगे सुख लह्यो, ते रहीम रघुनाथ ॥ १० ॥

यह रहीम माने नहीं, दिल से नवा जो होय ।
 चीता चोर कमान के, नए ते औगुन होय ॥ ११ ॥
 रहिमन तब लगि ठहरिए, दान मान सम्मान ।
 घटत मान देखिये जबहि, तुरतहि करिय पयान ॥ १२ ॥
 ज्यों नाचत कठपूतरी, करम नचावत गात ।
 अपने हाथ रहीम ज्यों, नाहीं अपने हाथ ॥ १३ ॥
 रहिमन कठिन चिताहु ते, चिन्ता कहँ चित चेत ।
 चिता दहति निर्जौव कहँ, चिन्ता जीव समेत ॥ १४ ॥
 एकै साधै सब सध, सब साधै सब जाय ।
 रहिमन सींचे मूल को, फूलै फलै अघाय ॥ १५ ॥
 घर डर गुरु डर बंस डर, डर लज्जा डर मान ।
 डर जेहि के जिय में बसै, तिन पाया रहमान ॥ १६ ॥
 रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सूत ।
 पानी गये न ऊवरै, मोति मानुष चून ॥ १७ ॥
 रहिमन विद्या बुद्धि नहिं, नहीं धरम जस दान ।
 जनम वृथा भू पर धरेउ, पशु बिन पुच्छ विपान ॥ १८ ॥
 ओछो काम बड़े करें तो न बड़ाई होय ।
 ज्यों रहीम हनुमन्त को, गिरधर कहे न काय ॥ १९ ॥
 दुरदिन परे रहीम कहि, भूलत सब पद्विचानि ।
 सोच नहीं बित हानि को, जो न होय हित हानि ॥ २० ॥
 निज कर किया रहीम कहि, सिधि भावी के हाथ ।
 पाँसे अपने हाथ में, दाँव न अपने हाथ ॥ २१ ॥
 यों रहीम सुख दुख सहत, बड़े लोग सह सांति ।
 उवत चन्द जेहि भांति सों, अथवत ताही भांति ॥ २२ ॥

रहिमन को कोउ का करै, उवारी, चोर लवार ।
 जो पत राखनहार है, माखन-चाखन-हार ॥ २३ ॥
 रहिमन जिह्वा बावरी, कहिगै सरगपताल ।
 आपु तो कहि भीतर रही, जूती खात कपाल ॥ २४ ॥
 रहिमन प्रीति सराहिण, मिले होत रग दून ।
 ज्यों जरदी हरदा तजे, तजे सफेदी चून ॥ २५ ॥
 हरि रहीम ऐसी करी, ज्यों कमान सर पूर ।
 खैचि आपनी ओर को, डारि दियो पुनि दूर ॥ २६ ॥
 संपति भरम गँवाइकै, हाथ रहत कछु नाहि ।
 ज्यों रहीम ससि रहत है, दिवस अकासहि माहि ॥ २७ ॥
 होय न जाकी छांह ढिग, फल रहीम अति दूर ।
 बढिहू सु बिनु काज ही, जंसे तार खजूर ॥ २८ ॥
 जो गरीब सां हित करै, धनि 'रहीम' वे लोग ।
 कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग ॥ २९ ॥
 जो 'रहीम' भावी कतौ, होति आपुने हाथ ।
 राम न जाते हरिन संग, सीय न रावन साथ ॥ ३० ॥
 संतत सम्पति जानि के, सब को सब कुछ देइ ।
 दीनबन्धु बिनु दीन कै, को रहीम सुधि लेइ ॥ ३१ ॥
 दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखै न कोइ ।
 जो रहीम दीनहिं लखै दीनबन्धु सम होइ ॥ ३२ ॥
 तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहिं न पानि ।
 कहि 'रहीम' पर-काज-हित, सम्पति सुचहिं सुजानि ॥ ३३ ॥
 जो 'रहीम' विधि बड़ किये, को कहि दूषन कादि ।
 चन्द्र दूवरो कूवरो, तऊ नखत ते बाढ़ि ॥ ३४ ॥

सर सूखे पंखी उड़ै, औरे सरन समाहिं ।
 दीन मीन बिनु पच्छ के, कहु 'रहीम' कहँ जाहिं ॥ ३५ ॥
 तब ही जग जीवो भलो, दीवो परै न धीम ।
 बिन दीवो जीवो जगत, हमहिं न रुचै 'रहीम' ॥ ३६ ॥
 'रहिमन' दानि दरिद्रतर, तरु जाँचिबे जोग ।
 ज्यों सरितन सूखा परे, कुवा खनावत लोग ॥ ३७ ॥
 'रहिमन' देखि बड़ेन को, लघु न दीजिये डारि ।
 जहाँ काम आवै सुई, कहा करै तरवारि ॥ ३८ ॥
 कहु 'रहीम' कैसे निभै, बेर केरु कर संग ।
 वे डोलत रस आपुनो, उनके फाटत अंग ॥ ३९ ॥
 खीग के सिर काटि के, मलियत नमक लगाइ ।
 'रहिमन' करुये मुखन कै, चाहिये यहाँ सजाइ ॥ ४० ॥
 'रहिमन' राज सराहिये, ससि-मम सुखद जो होय ।
 कहा बापुरो भानु है, तप्यो तरैयनि खोय ॥ ४१ ॥
 जो 'रहीम' उत्तम प्रकृति, का करि सकै कुसंग ।
 चन्दन विष व्यापत नहीं, लपिटे रहत भुजङ्ग ॥ ४२ ॥
 ज्यों 'रहीम' गति दीप की, कुल-कपूत गति सोइ ।
 बारे उजियारो लगे, बड़े अँधेरो होय ॥ ४३ ॥
 अनुचित उचित 'रहीम' लघु, करहिं बड़ेन के जोर ।
 ज्यों ससि के संयोग ते, पचवत आगि चकोर ॥ ४४ ॥
 धनि 'रहीम' जल पङ्क कहँ, लघु जिय पियत अघाय ।
 उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय ॥ ४५ ॥
 'रहिमन' नीचन संग बसि, लगत कलंक न काहि ।
 दूध कलारिन हाथ लखि, मद समुझहिं सब ताहि ॥ ४६ ॥

गुन ते लेत 'रहीम' जन, सलिल कूप ते काढ़ि ।
 कूपहुँ ते कहूँ होत है, मन काहू कर बाढ़ि ॥ ४७ ॥
 'रहिमन' वे नर मरि चुके, जे कहूँ मांगन जाहि ।
 उन ते पहिले वे मुये, जिन मुख निकसत नाहि ॥ ४८ ॥
 धन दारा अरु सुनन में, रत लगाये चित्त ।
 क्यों 'रहीम' खोजत नहीं, गाढ़े दिन कर मित्त ॥ ४९ ॥
 अब 'रहीम' मुसकिल परी, गाढ़े दोऊ काम ।
 सांचे में तो जग नहीं, भूठे मिले न राम ॥ ५० ॥
 'रहिमन' लाख भनी करो, अगुनी अगुन न जाइ ।
 राग सुनत पय पियत हूँ, सांप सहज धरि खाइ ॥ ५१ ॥
 सीत हरत तम हरत नित, भुवन भरत नहि चुक ।
 'रहिमन' तेहि रवि को कहा, जो घटि लखें उलूक ॥ ५२ ॥
 बिगरी बात बनै नहीं, लाख करो किन कोई ।
 'रहिमन' बिगरे दूध कां, मथै न माखन न होई ॥ ५३ ॥
 मथत मथत माखन रहै, दही मही बिलगाइ ।
 'रहिमन' सोई भीत है, भीर परै ठहराइ ॥ ५४ ॥
 'रहिमन' निज मन की व्यथा, मन ही राखौ गोय ।
 सुनि अठिलैहैं लोग सब, बांढि न लैहैं काय ॥ ५५ ॥
 अब 'रहीम' चुप करि रहिउ, समुझि दिनन कर फेर ।
 जब नीके दिन आइहैं, बनत न लगि हैं बेर ॥ ५६ ॥
 'रहिमन' विपदा हू भली, जो थारे दिन होइ ।
 हित अनहित या जगत में जानि परत सब कोइ ॥ ५७ ॥
 यों 'रहीम' सुख होत है, उपकारी के अङ्ग ।
 बांटन वारे के लगै, ज्यों मेंहदी को रङ्ग ॥ ५८ ॥

छमा बड़न को चाहिये, छोटन को उत्पात ।
 का 'रहीम' हरि को घट्यो, जो भृगु मारी लात ॥ ५६ ॥
 जब लगि बित्त न आपुनो, तब लगि मित्र न कोइ ।
 'रहिमन' अम्बुज अम्बु बिनु, रवि ताकर रिपु होइ ॥ ६० ॥
 बरु 'रहीम' कानन बसौं, असन करिय फल तोइ ।
 बन्धु-मध्य गति दीन हूँ, बसिबो उचित न कोइ ॥ ६१ ॥
 'रहिमन' घरिया रहँट कहँ, त्यों ओछे कै डीठि ।
 रीतिहि सन्मुख होति है, भरी दिखावै पीठि ॥ ६२ ॥
 'रहिमन' ओछे नरन ते, तजौ बैर अरु प्रीति ।
 काटे चाटे स्वान के, दुहँ भाँति विपरीति ॥ ६३ ॥
 'रहिमन' बहु भेषज करत, व्याधि न छाँड़ति साथ ।
 खग मृग बसत अरोग बन, हरि अनाथ के नाथ ॥ ६४ ॥
 खैर खून खांसी खुसी, बैर प्रीति मद-पान ।
 'रहिमन' दावै ना दवै, जानत सकल जहान ॥ ६५ ॥
 जैसी परै सो सहि रहै, कहि 'रहीम' यह देह ।
 धरती ही पर परत सब, सीत घाम अरु मेह ॥ ६६ ॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म काशी के एक समृद्ध वैश्य घराने में संवत् १६०७ में हुआ था और मृत्यु संवत् १९४१ में। इन के पिता का नाम गोपालचन्द्र था और माता का नाम पार्वती देवी। गोपालचन्द्र जी स्वयं एक प्रसिद्ध कवि थे। वे 'गिरधरदास' नाम से कविता किया करते थे। भारतेन्दु जी की अवस्था अभी पाँच वर्ष की ही थी कि इन की माता का देहान्त हो गया। दस वर्ष की अवस्था में पिता का आश्रय भी सदैव के लिए दूर हो गया। इन कारणों से इनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध बहुत शिथिल-सा रहा। परन्तु इनकी प्रतिभा बड़ी विलक्षण थी; जिस पाठ को यह एक बार सुन लेते थे उसे कभी नहीं भूलते थे। उर्दू, हिन्दी और अंग्रेजी के ये अच्छे विद्वान् थे। कविता करने का शौक इन्हें बचपन से ही था। कविता करने की शक्ति तो मानो इन्हें पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिली थी।

भारतेन्दु जी हिन्दी काव्य में एक नवीन युग के प्रवर्तक कहे जाते हैं। इनसे पहले को कविता अधिकांश में वासना-प्रधान शृङ्गार तक ही सीमित थी। कवि लोग मानव शरीर के बाह्य सौन्दर्य का चित्रण करके ही अपने आप को कृतकृत्य समझते थे। स्वदेशप्रेम, मातृभाषा-भक्ति, समाज-सुधार आदि अनेक लोक-हितकर विषयों की ओर उनका ध्यान ही नहीं था। भारतेन्दु जी सुधार की पताका लेकर साहित्य क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। इन्होंने कवियों का ध्यान सामयिक युग के अनुकूल विषयों की ओर आकर्षित किया और उन्हें मातृभूमि, मातृभाषा और समाज-सुधार के पुण्य गीत गाने की सफल प्रेरणा की। इस

प्रकार इन्होंने काव्य-सरिता की धारा को बिल्कुल नई दिशा में बदल दिया ।

राष्ट्रीयता के ये परम भक्त थे । मातृ-भाषा के प्रचार का भी इन्हें बेहद शौक था । इसी प्रकार की प्रबल इच्छा से प्रेरित हो कर इन्होंने हरिश्चन्द्र मैगज़ीन, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका आदि कई पत्र पत्रिकाओं को जन्म दिया था ।

ये केवल ३४ वर्ष तक जीवित रहे, परन्तु इस थोड़ी-सी आयु में ही हिन्दी के लिए बहुत कुछ कर गए । हिन्दी के प्रांत जो इनकी सेवाएँ हैं, वे इनकी स्मृति को सदैव के लिए अमर रखेंगी । इन की छोटी बड़ी सभी रचनाओं की संख्या कोई १५५ तक पहुँचती है । इन में से प्रेम-माधुरी, प्रेम-फुलवारी, सत्य हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, अन्धेर नगरी, भारत-जननी, भारत-दुर्दशा, चन्द्रावली, नीलदेवी आदि अधिक प्रसिद्ध हैं ।

करुणा-सरिता—

हरि-तन करुणा-सरिता बाढ़ी ।

दुखी देख निज जन बिनु साधन उमगिचली अति गाढ़ी ॥
तारि कूल मरजादा के दोउ न्याय करार गिराए ॥
जित तित परे करम-फल-तरु-गन जड़ सों तोरि बहाए ॥
अचल बिरुद गँभार भँवर गहि महापाप गन बोरे ॥
अहसन पवन बेग अति बेगहि दीन महान हिलोरे ॥
भरि दीने, जन हृदय-सरोवर नीनहुँ ताप बुझाई ॥
'हरीचंद' हरि-जस-समुद्र में मिली उमगि हरखाई ॥

भक्ति-दृष्ट—

देखहु मेरी नाथ ढिठाई ।

होइ महा अघरासि रहन हम चहत भगत कहवाई ॥
कबहुँ सुधि तुम्हारी आवै जो छटे-छमाहे भूने ॥
ताहि सों मनि माहि प्रेम अति रहत संत बान फूले ॥
एक नाम सों कोटि पाप को करन पराछित आवै ॥
निज अघ बड़यानलहि एक ही आँसू बूँद बुझावै ॥
जो व्यापक सर्वज्ञ न्यायरत धरम-अधीस मुरारी ॥
'हरीचन्द्र' हम छलन चहत तेहि साहस पर बलिहारी ॥
हम तो दोसहु तुम पै धरि हैं ।

व्यापक प्रेरक भाखि भाखिकै बुरे कर्म सब करि हैं ॥

भलो करम जौ कछु बनि जैहैं सो कहि हैं हम कीनो ।
निसि दिन बुरे करम को फल सब तुम्हरे माथे दीनो ॥
पतित पवित्रकरन तब तुमरो साँची हूँ है नाम ।
जब तारिहौं हठी कोठ जैसे 'हरीचन्द' अघ धाम ॥ २ ॥

बही मैं ठाम न नैकु रही ।

भरि गई लिखत निखत अघ मेरे बाकी तबहु रही ॥
चित्रगुप्त हारे अति थकि के बेसुध गिरे मही ।
जमपुर में हरताल परि है कछु नहि जात कही ॥
जम भाजे कछु खोज मिलत नहि सबही बही बही ।
'हरीचन्द' ऐस को तारो तो तुव नाम सही ॥ ३ ॥

गंगा-वर्णन—

नव उज्ज्वल जलधार, हार हीरक सी सोहति ।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्तामणि पोहति ॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत ।
जिमि नर-गन-मन विविधि मनोरथ करत मिटावत ॥
सुभग-स्वर्ग-सोपान-सरिस सब के मन भावत ।
दरसन-मञ्जन-पान त्रिविध भय दूर मिटावत ॥
श्रीहरिपद-तख-चन्द्रकान्त-मनि-द्रवित सुधारस ।
ब्रह्मा-कमण्डलु-मण्डन, भव-खण्डन सुर-सरवत ॥
शिव सिर मालतिमाल, भगीरथ-नृगति-पुन्यफज ।
ऐरावत-गज गिर-पात-हिम-नग-कण्ठहार कल ॥
सगर-सुवन्त-सठ-सहस परस जल मात्र उधारण ।
अगानित धारा रूप धारि सागर संचारण ॥

कासी कहे प्रिय जानि ललकि भेट्यो जग धाई ।
 सपने हूं नहिं तजी, रही अंकम लपटाई ॥
 कहूँ बंधे नव घाट उच्च गिरिवर-सम मोहत ।
 कहूँ छतरी कहूँ मदीं बड़ी मन मोहत जोहत ॥
 धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा पताका ।
 घहरत घंटा धुनि धमकत धौंसा करि साका ॥
 मधुरा नौबत बजत कहूँ नारी-नर गावत ।
 वेद पढ़त कहूँ द्विज, कहूँ जागो ध्यान लगावत ॥
 कहूँ सुन्दरी नहात बारि कर-जुगल उछारत ।
 जुग अबुज मिलि मुक्तगुच्छ मनु सुच्छ निकारत ॥
 धावत सुन्दरि बदन करन अति ही छवि पावत ।
 बारिनि न ते ससि कलंक मनु कमल भिटावत ॥
 सुन्दरि ससि मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत ।
 कमलबेल लहलही नवल कुसुमन मन मोहत ॥
 दीठ जहँ जहँ जात रहत तितही ठहराई ।
 गंगा छाँब हरीचन्द कछू बरनी नहिं जाई ॥

यमुना-वर्णन—

तरनि-तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये ।
 झुके कूल सों जल परसन हित मतहुँ सुझाये ॥
 किधौं मुकुर मैं लखत उभकि सब निज निज सोभा ।
 कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा ॥
 मनु आतप बारन तीर को सिमिटि सबै छाये रहत ।
 कै हरि-सेवा-हित नै रहे निरख नैन मन सुख लहत ॥

परत चन्द्र-प्रतिबिम्ब कहूँ जलमधि चमकायो ।
 लोल लहर लहि नचत कहूँ सोई मन भायो ॥
 मनु हरि दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो ।
 कै तरंग कर मुकुर लिये सांभत छवि छायो ।
 कै रास-रमन मैं हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है ।
 कै जल उर हरि मूरति बसति ता प्रतिबिम्ब लखात है ॥
 कवहुँ होत सत चन्द कवहुँ प्रगटत दुरि भाजत ।
 पवन गवन बस बिम्ब रूप जल में बहु साजत ॥
 मनु ससि भरि अनुराग जमुन-जल लाटत डोलै ।
 क तरंग की डार हिंडारन करत किलोलै ॥
 कै बाल गड़ी नभ में उड़ी सांहत इत उत धावत ।
 कै अवगाहत डालत काऊ ब्रज-रमनी जल आवत ॥
 कूजत कहूँ कलहंस कहूँ मञ्जत पारावत ।
 कहूँ कारण्डव उड़त कहूँ जल कुक्कुट धावत ॥
 चक्रवाक कहूँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत ।
 सुक पिरु जल कहूँ पियत कहूँ अमरावलि गावत ॥
 कहूँ तट पर नाचत मोर बहु रार विविध पच्छी करत ।
 जलपान न्हान करि सुख भरे तट सोभा सब जिय धरत ॥

भारत-दुर्दशा—

भारत के भुज-बल जग रच्छि !
 भारत विद्या लहि जग सिच्छत ॥
 भारत तेज जगत विस्तारा ।
 भारत भय कंपत संसारा ॥

जाके तनिकहिं भौंह हिलाए ।
 थर थर कंपत नृप डरपाए ॥
 जाके जय की उज्जल गाथा ।
 गावत सब महिं मंगल साथी ॥
 भारत किरिन जगत उजियारा ।
 भारत जीव जिअत संसारा ॥
 रह्यौ रुधिर जव आरज-सीसा ।
 ज्वलित अनल समान अवनिसा ॥
 साहस बल इन सम कोउ नाहीं ।
 तब रह्यौ महिमंडल माहीं ॥
 कहा करी तकसीर तिहारी ।
 रे विधि रुष्ट याहि की बारो ॥
 सब सुखी जग के नर नारी ।
 रे विधना भारत ही दुखारी ॥
 हाय रोम तू अति बड़भागी ।
 बर्वर तोहि नास्यौ जय लागी ॥
 तोड़े कीरतिथंभ अनेकन ।
 ढाहे गढ़ बहु करि प्रण ठेकन ॥
 मन्दिर महलनि तोरि गिराए ।
 सबै चिन्ह सब धूरि मिलाए ॥
 कछु न बचि तुव भूमि निसानी ।
 सो बरु मेरे मन अति मानी ॥
 भारत भाग न जात निहारे ।
 थाप्यो पग ता सीस उघारे ॥

तोरयो दुर्गन महल ढहायो ।
 तिनहीं में निज गोह बनायो ॥
 ते कलंक सब भारत केरे ।
 ठाढ़े अजहूँ लखो घनेरे ॥
 काशी प्राग अयोध्या नगरी ।
 दीन रूप सम ठाढ़ी सगरी ॥
 चंडालहु जेहि निरखि घिनाई ।
 रही सबे भुव मुंह मसि लाई ॥
 हाय पंचनद हा पानीपत ।
 अजहुँ रहें तुम धरनि विराजत ॥
 हाय चित्तौर निलज तू भारी ।
 अजहुँ खरो भारतहि मंझारी ॥
 जो दिन तुम अधिकार नसायो ।
 सो दिन क्यों नहिं धरनि समायो ॥
 तुम में जल नहिं जमुना गंगा ।
 बढहु बेग करि तरल तरङ्गा ॥
 धोवहु यह कलंक की रासी ।
 बारहु किन भट मथुरा कासी ॥
 कुस कन्नौज अङ्ग अरु वंगहि ।
 बोरहु किन निज कठिन तरंगहि ॥
 वोरहु भारत भूमि सवेरे ।
 मिटै करक जिय की तब मेरे ॥
 अहो भयानक भ्राता सागर ।
 तुम तरंग-निधि अति बल-आगर ॥

बोरे कहु गिरि बन अस्थाना ।
 पै बिसरे भारत हित जाना ॥
 बढहु न बेगि धाइ क्यों भाई ।
 देहु भरत भुव तुरत डुबाई ॥
 यदि छिपावहु विध्य हिमालय ।
 करहु सकल जल भीतर तुम लय ॥
 धोवहु भारत अपजस पंका ।
 मेढहु भारत-भूगि कलंका ॥

फूट

जगत में घर की फूट बुरी ।
 घर फी फूटहिं सों बिनसाई सुबरन लंकपुरी ॥
 फूटहिं सों सब कौरव नासे भारत युद्ध भयो ।
 जाको घाटो या भारत में अबलौं नाहिं पुजयो ॥
 फूटहिं सों जयचन्द्र बुलायो यवनन भारत धाम ।
 जाको फल अब लौं भोगत सब आरज होई गुलाम ॥
 फूटहिं सों नबनन्द बिनासे गयो मगध को राज ।
 चन्द्र गुप्त को नासन चाह्यो आप नसे सह साज ॥
 जो जग में धन मान और बल आपुनो राखन होय ।
 तो अपने घर मैं भलेहू फूट करो मत कोय ॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय

इन का जन्म सम्वत् १९२२ में संयुक्त प्रान्त के निजामाबाद नाम के एक कस्बे में हुआ था और निधन सम्वत् २००४ में। इनके पिता का नाम पं० भोलानाथ उपाध्याय था। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद इन्होंने तहसीली स्कूल में वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा पास की। इसके बाद अंग्रेज़ी पढ़ने के लिए ये क्वीन्स कालिज बनारस में प्रविष्ट हुए, किन्तु स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण इन्हें कालिज छोड़ना पड़ा। इसके बाद ये चार पाँच वर्ष तक घर पर ही अंग्रेज़ी, फारसी तथा संस्कृत का अभ्यास करते रहे। २२ वर्ष की अवस्था में इन्होंने नार्मल परीक्षा पास की और इसके दो वर्ष बाद कानूनगोई। तहसीली स्कूल में कुछ देर अध्यापन कार्य करने के बाद ये कानूनगो के पद पर नियुक्त हो गए और ३३ वर्ष तक सरकारी नौकरी की। सम्वत् १९८० में सरकारी नौकरी समाप्त कर ये पेंशन के अधिकारी हुए।

साहित्य की ओर प्रारम्भ से ही इनकी रुचि थी। सरकारी नौकरी के साथ-साथ काव्य-साधना में ये रात-रात प्रवृत्त रहे, और पेंशन-प्राप्ति के समय तक साहित्य-क्षेत्र में ये पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। सरकारी नौकरी से निवृत्त होकर आप कई वर्षों तक काशी के हिन्दू विश्व विद्यालय में अवैतनिक रूप से अध्यापन का कार्य करते रहे।

उपाध्याय जी ने ब्रज भाषा तथा खड़ी बोली दोनों में सफलता पूर्वक कविता की है। गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में सफलता ने इनका साथ दिया है। ये गद्य और पद्य दोनों में कठिन से कठिन तथा सरल से

सरल भाषा लिखने की क्षमता रखते थे। संस्कृत-शब्दमयी और बोल-चाज़ की दोनों प्रकार की शैलियों पर इनका समान अधिकार है। पुराने विषयों में भी चमत्कार पूर्ण नवीनता ला देना इनकी विशेषता है। ('प्रिय प्रवास' इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है।) संस्कृत ढंग के इस अनुकान्त महाकाव्य ने उपाध्याय जी को अमर कीर्ति प्रदान की है। इस पर संवत् १९६५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से इन्हें मंगलाप्रवाद पारितोषिक भी मिला था। वैदेही बनवास इनका दूसरा महाकाव्य है। इनके अतिरिक्त 'जुमते चौपदे', 'चोखे चौपदे', 'घोल-चाल' आदि इनकी अनेक रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। 'पद्य प्रसून' और कल्पलता इनकी फुटकर कविताओं के संग्रह हैं।

श्रीकृष्ण का गोकुल गमन--

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला ।
तरु-शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा ॥

(२)

विपिन बीच बिहंगमवृन्द का,
कल निनाद विवर्धित था हुआ ।
ध्वनिमयी विविधा विहगावली,
उड़ रही नभमण्ड-मध्य थी ॥

(३)

अधिक और हुई अब लालिमा,
दश-दिशा अनुरञ्जित हो गई ।
सकल - पादप - पुञ्ज हरीतिमा,
अरुणिमा विनिर्माञ्जित सी हुई ॥

(४)

भलकने पुलिनों पर भी लगी.
गगन के तल की यह लालिमा ।
सरिता औ' सर के जल में पड़ी,
अरुणिमा अति ही रमणीय थी ॥

(५)

अचल के शिखरों पर जा पड़ी,
किरण पादप-शीश विहारिणी ।
तरणि-बिम्ब तिरोहित हो चला,
गगन मण्डल मध्य शनैः शनैः ॥

(६)

ध्वनिमयी कर के गिरि कन्दरा,
कलित-कानन केलि निकुञ्ज में ।
मुरलि एक बजी इस काल हो,
तरणिजा-तट-राजित कुञ्ज में ॥

(७)

क्वणित मञ्जु विपाण हुए कई,
रणित शृंग हुए बहु साथ ही ।
फिर समाहित - प्रान्तर - भाग में,
सुन पड़ा स्वर धावित-धेनु का ॥

(८)

विपिन की क्षण में वन-वीथिका,
विविध धेनु-विभूषित हो गई ।
धवल - धूसर - वत्स - समूह भी,
समुद्र था जिनके संग सोहता ॥

(९)

जब हुई समवेत शनैः शनैः,
सहित गो-गण मण्डलि ग्वाल की ।

तब चली ब्रज - भूषण को लिए,
वह अलंकृत - गोकुल-ग्राम का ॥

(१०)

गगन के तल गोरज छा गई,
दश - दिशा बहुशब्दमयी हुई ।
विशद गोकुल के प्रति गेह में,
बह चला वर स्रोत विनोद का ॥

(११)

दिन समस्त समाकुल से रहे,
सकल मानव गोकुल ग्राम के ।
अब दिनान्त बिलोकत ही बड़ी,
ब्रजविभूषण - दर्शन - लालसा ॥

(१२)

सुन पड़ा स्वर ज्यों कल वेणु का,
सकल ग्राम समुत्सुक हो उठा ।
हृदय - यन्त्र निनादित हो गया,
तुरत ही अनियन्त्रित भाव से ॥

(१३)

वयवती युवती बहु बालिका,
सकल बालक वृद्ध वयस्क भी ।
विवश से निकले निज गेह से,
स्वहृग के दुख मोचन के लिए ॥

(१४)

इधर गोकुल से जनता कढ़ी,
उमगती अति आनन्द में पगी ॥

उधर आ पहुँची बलवीर की,
विपुल-धेनु-विमण्डित मण्डली ॥

(१५)

ककुभ - शोभित गोरज बीच से,
निकलते ब्रज - बल्लभ यों लसे ।
कदन ज्यों करके दिशि कालिमा,
विकसता नभ में नलिनीश है ॥

कर्मवीर—

देखकर बाधा विविध, बहु विघ्न घबराते नहीं ।
रह भरोसे भाग के दुख भोग पछताते नहीं ॥
काम कितना ही कठिन हो किन्तु उकताते नहीं ।
भीड़ में चंचल बने जो वीर दिखलाते नहीं ॥
हो गये यक आन में उनके भले दिन भी बुरे ।
सब जगह सब काल में वे ही मिले फूले फले ॥१॥

आज करना है जिसे करते उसे हैं आज ही ।
सोचते कहते हैं जो कुछ कर दिखाते हैं वही ॥
मानते जी की हैं सुनते हैं सदा सब की कही ।
जो मदद करते हैं अपनी इस जगत में आप ही ॥
भूलकर वे दूसरों का मुँह कभी तकते नहीं ।
कौन ऐसा काम है वे कर जिसे सकते नहीं ॥२॥

जो कभी अपने समय को यों बिताते हैं नहीं ।
काम करने की जगह बातें बनाते हैं नहीं ॥

आज कल करते हुए जो दिन गंवाते हैं नहीं ।
यत्न करने में कभी जी जो चुराते हैं नहीं ॥
बात है वह कौन जो होती नहीं उनके लिये ।
वे नमूना आप बन जाते हैं औरों के लिये ॥३॥

व्योम को छूते हुए दुर्गम पहाड़ों के शिखर ।
वे घने जंगल जहाँ रहता है तम आठों पहर ॥
गर्जते जल-राशि की उठती हुई ऊँची लहर ।
आग की भयदायिनी फैली दिशाओं में लबर ॥
ये कँपा सकती कभी जिसके कलेजे को नहीं ।
भूल कर भी वह नहीं नाकाम रहता है कहीं ॥४॥

चिलचिलाती धूप को जो चाँदनी देवें बना ।
काम पड़ने पर करें जो शेर का भी सामना ॥
जो कि हँस हँस के चबा लेते हैं लोहे का चना ।
है कठिन कुछ भी नहीं जिनके है जी में यह ठना ॥
कोस कितने ही चलें पर वे कभी थकते नहीं ।
कौन सी है गाँठ जिस को खोल वे सकते नहीं ॥५॥

ठीकरी को वे बना देते हैं सोने की डली ।
रोग को कर के दिखा देते हैं वे सुन्दर खली ॥
वे बबूलों में लगा देते हैं चपे की कली ।
काक को भी वे सिखा देते हैं कोकिल-काकली ॥
ऊसरोँ में हैं खिला देते अनूठे वे कमल ।
वे लगा देते हैं उकटे काठ में भी फूज फल ॥६॥

काम को आरम्भ करके यों नहीं जो छोड़ते ।
सामना करके नहीं जो भूल कर मूँह मोड़ते ॥

जो गगन के फूल बातों से वृथा नहीं तोड़ते ।
संपदा मन से करोड़ों की नहीं जो जोड़ते ॥
बन गया हीरा उन्हीं के हाथ से है कारबन ।
काँच को करके दिखा देते हैं वे उज्ज्वल रतन ॥ ७ ॥

पर्वतों को काट कर सड़कें बना देते हैं वे ।
सैकड़ों मरुभूमि में नदियाँ बहा देते हैं वे ॥
गर्भ में जलराशि के बेड़ा चला देते हैं वे ।
जङ्गलों में भी महा-मंगल रचा देते हैं वे ॥
भेद नभतल का उन्होंने है बहुत बतला दिया ।
है उन्होंने ही निकाली तार की सारी क्रिया ॥ ८ ॥

कार्य-थल को वे कभी नहि पूछते 'वह है कहाँ' ?
कर दिखाते हैं असम्भव को वही सम्भव यहाँ ।
उलझनें आकर उन्हें पड़ती हैं जितनी ही जहाँ ।
वे दिखाते हैं नया उत्साह उतना ही वहाँ ॥
डाल देते हैं विरोधी सैकड़ों ही अड़चनें ।
वे जगह से काम अपना ठीक करके ही टलें ॥ ९ ॥

जो रुकावट डालकर होवे कोई पर्यंत खड़ा ।
तो उसे देते हैं अपनी युक्तियों से वे उड़ा ॥
बीच में पड़कर जलधि जो काम देवे गड़बड़ा ।
तो बना देंगे उसे वे लुद्र पानी का घड़ा ॥
बन खँगालेंगे करेंगे ब्योम में बाजीगरी ।
कुछ अजब धुन काम के करने की उनमें है भरी ॥ १० ॥

सब तरह से आज जितने देश हैं फूले फले ।
बुद्धि, विद्या, धन विभव के हैं जहाँ डेरे डले ॥

वे बनाने से उन्हीं के बन गये इतने भले ।
वे सभी हैं हाथ से ऐसे सपूतों के पले ॥
लोग जब ऐसे समय पाकर जन्म लेंगे कभी ।
देश की ओ' जाति की होगा भलाई भी तभी ॥ ११ ॥

फूल और काँटा—

हैं जनम लेते जगत् में एक ही,
एक ही पौधा उन्हें है पालता ।
रात में उन पर चमकता चाँद भी,
एक ही सी चाँदनी है डालता ॥ १ ॥
मेह उन पर है बरसता एक सा,
एक सी उन पर हवायें हैं बही ।
पर सदा ही यह दिखाता है हमें,
ढंग उन के एक से होते नहीं ॥ २ ॥
बेद कर काँटा किसी की उंगलियाँ,
फाड़ देता है किसी का वर वसन ।
प्यार डूबी तितलियों का पर कतर,
भौर का है बेध देता श्याम तन ॥ ३ ॥
फूल लेकर तितलियों को गोद में,
भौर को अपना अनूठा रस पिला ।
निज सुगन्धा ओ' निराले रंग से,
है सदा देता कल्ली जी की खिला ॥ ४ ॥
है खटकता एक सब को आँख में,
दूसरा है सोहता सुर साँस पर ।
किस तरह कुल की बड़ाई काम दे,
जो किसी में हो बड़प्पन की कसर ॥ ५ ॥

समय का फेर—

धन विभव की बात क्या जिनके बड़े,
 राज बराबर थे समझते राज को। *valueless*
 है तरस आता उन्हीं के लाड़ले,
 हैं तरसते एक मूठी नाज को,

क्या दिनों का फेर हम इस को कहें ?
 या कि है दिखला रही रङ्गत विपत ?
 थी कभी हम से नहीं जिनकी चली,
 आज दिन वे ही चलाते हैं चपत ॥

बेर खा वे बिता रहे हैं दिन,
 जो रहे धन कुबेर कहलाते ।
 अन्न से घर भरा रहा जिनका,
 आज वे पेट भर नहीं पाते ॥

चाव से चुगते जहाँ मोती रहे,
 हंस तज कर मानसर आये हुए ।
 पोच दुख से आज वां के जन पचक,
 फिर रहे हैं पेट पचकाये हुए ॥

जो सुखों की गोदियों के लाल थे,
 दिन ब दिन वे हैं दुखों से घिर रहे ।
 जो रहे अकड़े जगत के सामने,
 आज वे हैं पेट पकड़े फिर रहे ॥

बांटते जो जहान को उनको,
 सुन रही बाट बांटने ही की ।
 पाटते जो समुद्र थे उनको,
 है पड़ी पेट पाटने ही की ॥

पेट जिनसे चींटियों तक का पला,
जा सके जिनके नहीं जाचक गिने ।
कट रहे हैं पेट का काटें गये,
लट रहे हैं कौर वे मुँह का छिने ॥

दूध पीने को उन्हें मिलता नहीं,
जो सहित परिवार पीते घी रहे ।
अब किसी का पेट भर पाता नहीं,
लोग आधा पेट खा हैं जी रहे ॥

पेट भर अब अन्न मिलता है कहाँ ?
हैं कहाँ अब डालियाँ फल से लदी ?
बह रहा है सोत दुःख का अब वहाँ,
थी जहाँ घी दूध की बहती नदी ॥

छिन गया आज कौर मुँह का है,
गाय देती न दूध है दूहे ।
है बुरा हाल भूख से मेरा,
पेट में कूद हैं रहे चूहे ॥

बात बिगड़े नहीं किसी की यों,
मरतवा यों न हो किसी का कम ।
पाँव मेरे जहान पड़ता था,
दुख पड़े पाँव पड़ रहे हैं हम ॥

आज वे हैं जान के गाहक बने,
मुँह हमारा देख जो जीते रहे ।
हाथ धो वे आज पीछे हैं पड़े,
जो हमारा पाँव धो पीते रहे ॥

छू जिन्हें मैल दूर होता था,
आज वे हो गये बहुत मैले ।
वे नहीं आज फैलते घर में,
पाँव जो थे जहान में फैले ।

बेहतर क्यों न दिल रहे मलता,
दुख दुखी चित्त किस तरह हो कम ।
लोटते पाँव के तले जो थे,
पाँव उनका पलोटते हैं हम ॥

गालियाँ है आज उनको मिल रही,
गीत जिनका देवते थे गा रहे ।
पाँव जिनके प्रेम से पुजते रहे,
पाँव की वे ठोकें हैं खा रहे ॥

अब वहाँ छल की कपट की फूट की,
नटखटी की है रही फहरा धुजा ।
पापियों का पाप मन का मैल धो,
है जहाँ पर पाँव का धोअन पुजा ॥

आज वे पाले दुखों के हैं पड़े,
जो सदा सुख-पालने में ही पले ।
सेज पर जो फूल की थे लेटते,
वे रहे हैं लेट तलवाँ के तले ॥

मैथिलीशरण गुप्त

गुप्त जी भारत के प्रातनिधि कवि हैं। इनकी कविता की लोकप्रियता इसका सजीव प्रमाण है। निर्धन और धनिक, स्कूल के छात्र और धुरन्धर विद्वान्, बच्चे और बूढ़े सभी इनकी रचनाओं को अत्यन्त चाव से पढ़ते हैं। इस लोकप्रियता का रहस्य है इनकी सरल भाषा, इनके मार्मिक विचार और जनता के हृदय तक पहुँचने वाले इनकी कविता के विषय।

इनका जन्म संवत् १९४३ में सेठ श्री रामचरण गुप्त जी के घर चिरगाँव जिला झाँसी में हुआ था। इनकी शिक्षा अधिकतर घर पर ही हुई। ११ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भिक शिक्षा के बाद अङ्ग्रेज़ी अध्ययन के लिए इन्हें झाँसी भेज दिया गया, किन्तु वहाँ पढ़ाई की अपेक्षा ये खेल कूद में अधिक प्रवृत्त रहते थे। यह देख कर इनके पिता ने इन्हें वापिस बुला लिया और अपनी देख-रेख में घर पर ही फिर से इनकी पढ़ाई की व्यवस्था कर दी। कविता करने का इन्हें बचपन से ही बड़ा शौक था; काव्य रचना की यह प्रवृत्ति इन्हें अपने पिता से प्राप्त हुई थी। सेठ श्री रामचरण जी कविता के अच्छे प्रेमी थे और कभी-कभी स्वयं भी कविता करते थे। उनके संसर्ग से गुप्त जी को काफी उत्तेजना मिली। गुप्त जी के दूसरे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। द्विवेदी जी के समस्त प्रोत्साहन से गुप्त जी की काव्य-शक्तियों को एक निश्चित धारा ग्रहण करने में बहुत कुछ सहायता मिली।

। गुप्त जी ने अधिकांश में राष्ट्र और समाज इन दो विषयों पर लिखा है। इनके हृदय में दोनों के गौरवमय अतीत के प्रति असीम आदर है। दीन-हीन वर्तमान के प्रति अपार खेद है और उज्ज्वल भविष्य के प्रति आशा का भाव। इन भावनाओं का गुप्त जी ने अपनी रचनाओं में बहुत सुन्दर चित्रण किया है। इनके इस सफल प्रयास से राष्ट्र और समाज दोनों को ऊपर उठाने में सहायता मिली है। जाति के उद्बोध के लिए, समाज की उन्नति के लिए, तथा देश के पुनरुत्थान के लिए इनकी रचनाएँ बहुत हितकर साबित हुई हैं।

भारत-भारती, रंग में भंग, किसान, वैतालिक, स्वदेश संगीत, पत्रावली, हिन्दू, गुरुकुल, जयद्रथवध, पंचवटी, सैरन्धी, शकुन्तला, बकसंहार, बनवैभव, साकेत, यशोधरा, चन्द्रहास, अवध, तिलोत्तमा, मेघनाथ-वध, पलासी का युद्ध, द्वापर, सिद्धराज, कुणाल गीत इत्यादि इनकी अनेक रचनाएँ हिन्दी-जगत् में अमर ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। 'साकेत' पर इन्हें मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिला चुका है। 'जय-भारत' इनकी नवीनतम रचना है।'

शिक्षा की अवस्था—

हा ! अब शिक्षा मार्ग भी संकीर्ण होकर क्लिष्ट है, कुलपति-सहित उन गुरुकुलों का ध्यान ही अवशिष्ट है । बिकने लगी विद्या यहाँ अब शक्ति हो तो क्रय करो, गर्द शुल्क आदि न दे सको तो मूर्ख रह कर ही मरो ॥१॥

ऐसी असुविधा में कहो वे दीन कैसे पढ़ सकें ? इस ओर वे लाखों अकिञ्चन किस तरह से बढ़ सकें ? अधपेट रह कर काटते हैं मास दिन के तीस वे, पावें कहाँ से पुस्तकें, लावें कहाँ से फीस वे ? ॥२॥

वह आधुनिक शिक्षा किसी विधि प्राप्त भी कुछ कर सको तो लाभ क्या, बस क्लर्क बन कर पेट अपना भर सको ! लिखते रहो जो सिर झुका, सुन अफ़सों की गालियाँ ! तो दे सकेंगी रात को दो रोटियाँ घरवाल्याँ ! ॥३॥

अब नौकरी ही के लिये विद्या पढ़ी जाती यहाँ, बी० ए० न हों हम तो भला डिप्टीगिरी रखी कहाँ ? किस स्वर्ग का सोपान है तू हायरी, डिप्टीगिरी ! सीमा समुन्नति की हमारी, चित्त में तू ही भरी !! ॥४॥

शिक्षार्थ छात्र विदेश भी जाते अवश्य कभी कभी, पर वक्तृता ही भाड़ते हैं लौट कर प्रायः सभी । है काम कितनों का यही पहले यहाँ मिस्टर बनें, इंग्लैंड जाकर फिर वहाँ वाग्बीर बारिस्टर बनें ॥५॥

वे वीर हाय स्वदेश का करते यही उपकार हैं,
दो भाइयों के युद्ध में होते यही आधार हैं ।
उनके भरोसे पर यहाँ अभियोग चलते हैं बड़े,
हारें कि जीतें आप, उनके किन्तु पौबारह पड़े ॥६॥

जाकर विदेश अनेक अब तक युवक अपने आ चुके,
पर देश के वाणिज्य हित की ओर कितने हैं झुके ?
हैं कारखाने कौन से उनके प्रयत्नों से चले ?
क्या क्या सु-फल निज देश में उनसे अभी तक हैं फले ॥७॥

बिगड़े हमारे अब सभी स्वाधीन वे व्यवसाय हैं,
भिक्षा तथा बस भृत्यता ही आज शेष उपाय हैं ।
पर हाय ! दुर्लभ हो रही है प्राप्ति इनकी भी यहाँ,
यह कौन जाने इस पतन का अन्त कब होगा कहाँ ! ॥८॥

वह साम्प्रतिक शिक्षा हमारे सर्वथा प्रतिकूल है,
हम में, हमारे देश के प्रति, द्वेष-मति की मूल है ।
हम में विदेशी भाव भर के वह भुनाती है हमें,
सब स्वास्थ्य का संहार करके वह रुलाती है हमें !! ॥९॥

होती नहीं उससे हमें निज धर्म में अनुरक्ति है,
होने न देती पूर्वजों पर वह हमारी भक्ति है ।
उस में विदेशी मान का ही मोहपूर्ण महत्त्व है,
फल अन्त में उसका वही दासत्व है, दासत्व है ! ॥१०॥

दुर्भाग्य से अब एक तो वह ब्रह्मचर्याश्रम नहीं,
तिस पर परिश्रम व्यर्थ यह पड़ता हमें कुछ कम नहीं ?
फिर शीघ्र ही चश्मा हमारे चक्षु चाहें क्यों नहीं ?
हम रुग्ण होकर आमरणदुख से कराहें क्यों नहीं ? ॥११॥

करके सु-शिक्षा की उपेक्षा यों पतित हम हो रहे,
हो प्रातः पशुता को स्वयं मनुजत्व अपना खो रहे ।
आहार निद्रा आदि में नर और पशु क्या सम नहीं ?
हैं ज्ञान का बस भेद सो भूले उसे क्या हम नहीं ? ॥१२॥

धर्मोपदेशक विश्व में जाते जहाँ से थे सदा,
शिक्षार्थ आते थे जहाँ संसार के जन सर्वदा ।
अज्ञान के अनुचर वहाँ अब फिर रहे फूले हुए,
हम आज अपने आपको भी हैं स्वयं भूले हुए ॥१३॥

अपमान हाय ! सरस्वती का कर रहे हम लोग हैं,
पर साथ ही इस धृष्टता का पा रहे फल-भोग हैं ।
निज देवता के कोप में कल्याण किस का है भला ?
हम मोह-मुग्ध फँसा रहे हैं आप ही अपना गला ॥१४॥

मातृ-भूमि—

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर,
सूर्य चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर हैं ।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह फूल तारे मण्डन हैं ।
बन्दी विविध विहंग, शेष-फन सिंहासन हैं ॥

करते अभिषेक पयोद हैं,
बलिहारी इस वेष की !
है मातृ-भूमि तू सत्य ही,
सगुणमूर्ति सर्वेश की ॥

मृतक-समान अशक्त विवश आँखों को मीचे ।
गिरता हुआ विलोक गर्भ से हमको नीचे ।

करके जिसने कृपा हमें अवलम्ब दिया था,
लेकर अपने अतुल अंक में त्राण किया था ।

जो जननी का भी सर्वदा,
थी पालन करती रही ।
तू क्यों न हमारी पूज्य हो,
मातृ भूमि मातामही ॥

जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक-सरक कर खड़े हुए हैं ।
परमहंस सम बाह्यकाल में सब सुख पाये,
जिसके कारण धूलि भरे 'हारे' कहलाये ।

हम खेले कूदे हर्षयुत,
जिसकी प्यारी गोद में,
हे मातृ-भूमि ! तुझ को निरख,
मग्न क्यों न हो मोद में,

हमें जीवनाधार अन्न तू ही देती है,
बदले में कुछ नहीं किसी से तू लेती है !

श्रेष्ठ एक से एक विविध द्रव्यों के द्वारा,
पोषण करती प्रेम-भाव से सदा हमारा ।

हे मातृ-भूमि, उपजें न जो,
तुम से कृषि-अंकुर कभी ।
तो तड़प तड़प कर जल मरें,
जठरानल से हम सभी ॥

तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
शीतल मन्द सुगन्ध पवन हर लेती श्रम है ।

षट् ऋतुओं का विविध दृश्ययुत अद्भुत क्रम है,
हरियाली का फर्श नहीं मखमल से कम है ।
शुचि सुधा 'सींचता' रात में,
तुझ पर चन्द्र-प्रकाश है ।
हे मातृ-भूमि ! दिन की तरणि,
करता तम का नाश है ।
सुरभित सुन्दर सुखद सुमन तुझ पर खिलते हैं,
भाँति भाँति के सरस सुधोपम फल मिलते हैं ।
औषधियाँ हैं प्राप्त एक से एक निराली,
खानें शोभित कहीं धातुवर-रत्नों वाली !
आवश्यक जो होते हमें,
मिलते सभी पदार्थ हैं ।
हे मातृ-भूमि, 'वसुधा', 'धरा',
तेरे नाम यथार्थ है ॥
दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी, वेणी ।
नदियाँ पैर पखार रही हैं बनकर चेरी,
फूलों से तरु-राजि कर रही पूजा तेरी,
मृदु मलय-वायु मानो तुझे,
चन्दन चारु चढ़ा रही ।
हे मातृ-भूमि, किस का न तू,
सात्विक भाव बढ़ा रही ॥
क्षमामयी, तू दयामयी है, क्षेममयी है,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है ।
विभवशालिनी, विश्वपालिनी, दुख-हर्त्री है,
भयनिवारिणी शान्तिकारिणी सुखकर्त्री है ।

हे शरणदायिनो देवि, तू
 करती सब का त्राण है ।
 हे मातृभूमि, सन्तान हम,
 तू जननी, तू प्राण है ॥

जिस पृथ्वी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
 उस से हे भगवान् कभी हम रहें न न्यारे,
 लोट लोट कर वहीं हृदय को शान्त करेंगे,
 उस में मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे,
 उस मातृभूमि की धूल में,
 जब पूरे सज जाएँगे ।
 होकर भव-बन्धन-मुक्त हम,
 रूपात्मा बन जाएँगे ।

माँ कह एक कहानी—

“माँ, कह एक कहानी ।”

“बेटा समझ लिया क्या तूने

मुझ को अपनी नानी ?”

“कहती है मुझ से यह चेटी !

तू मेरी नानी की बेटा !

कह माँ, कह, लेटी ही लेटी,

राजा था या रानी ?”

“राजा था या रानी ?

माँ कह एक कहानी ।”

‘तू है हठी मानधन मेरे, *respect-*
 सुन, उपवन में बड़े सवेरे, *garden*
 तात भ्रमण करते थे तेरे, *gather, was*
 जहाँ सुरभि मनमानी” *smell*
 “जहाँ सुरभि मनमानी ?
 हाँ, माँ, यही कहानी।”

“वर्ण वर्ण के फून खिले थे, *coloured*
 झलमल कर हिप-विन्दु भिले थे, *deco*
 हलके झंके दिले-मिले थे, *sway*
 लहाना था पानी।”
 “लहराना था पानी ? *sway*
 हाँ, हाँ, यही कहानी।”

“गाते थे खग कल कल स्वर से, *sweet noise, sound*
 सहसा एक हृम ऊपर से, *suddenly*
 गिग, विद्ध दाकर स्वर श मे, *wound, sharp arc*
 हुई पत्त की हानी।” *wing, unless*
 “हुई पत्त की हानी ?
 करुणा-भरी कहानी।” *pity*

“चौक उन्होंने उसे उठाया, *beat-*
 नया जन्म-सा उसने पाया,
 इतने में आखेटक आया, *hunter*
 लक्ष्य-सिद्धि का मानी।”
 “लक्ष्य-सिद्धि का मानी ? *success in aim*
 कामल-कठिन कहानी।” *delicate*

“मांगा उसने आहत पक्षी, *wounded*
 तेरे तात किन्तु थे रक्षी, *saviour*
 तब उसने, जो था खग-भक्षी— *eater of birds*
 हठ करने की ठानी।”

“हठ करने की ठानी?
 अब बढ़ चली कहानी।”

“हुआ विवाद सद्य-निर्दय में, *discussion, kind*
 उभय आप्रही थे स्व-विषय में, *both, stubborn, men*
 गई बात तब न्यायालय में, *high court*
 सुनी, सभी ने जानी।”

“सुनी सभी ने जानी?
 व्यापक - हुई कहानी।” *spread*

“राहुल, तू निर्णय कर इसका— *decide*
 न्याय पक्ष लेता है किसका? *justice*
 कह दे निर्भय, जय हो जिसका। *earlier*
 सुन लूँ तेरी बानी।” *• words*

“माँ मेरी क्या बानी?
 मैं सुन रहा कहानी।”

“कोई निरपराध को मारे, *guiltless*
 तो क्यों अन्य उसे न उवारे?

रक्षक पर भक्षक को वारे, *saviour, cannibal*
 न्याय दया का दाती।”

“न्याय दया का दाती?
 तूने गुनी कहानी।”

कैकेयी का परिताप--

“यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को ।”

चौंके सब सुन कर अटल कैकेयी-स्वर को ।

सब ने रानी की ओर अचानक देखा,

वैधव्य-तुषारावृता यथा विधु-लेखा ।

बैठी थी अचल तथापि असंख्य तरङ्गा,

वह सिही अब थी, हहा ! गोमुखी गङ्गा ।

“हाँ, जन कर भी मैंने न भरत को जाना,

सब सुन लें तुमने स्वयम् अभी यह माना ।

यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया,

अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी भैया ।

दुर्बलता का ही चिन्ह-विशेष शपथ है,

पर, अबलाजन के लिए कौन-सा पथ है ?

यदि मैं उकसायी गई भरत से होऊँ,

तो पाति समान ही स्वयम् पुत्र भी खोऊँ ।

ठहरो मत रोको मुझे—कहूँ सो सुन लो—

पाओ यदि उस में सार, उसे सब चुन लो ।

करके पहाड़ सा पाप मौन रह जाऊँ ?

राई भर भी अनुताप न करने पाऊँ ?”

थी सनत्तत्र शशि-निशा ओस टपकाती,

रोती थी नीरव सभा हृदय थपकाती ।

उल्का-सी रानी, दिशा दीप्त करती थी;

सब में भय विस्मय, और भेद भरती थी !

“क्या कर सकती थी मरी मन्थरा दासो ?

मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी ।
जल पञ्जर-गत अब अरे अधीर, अभागे,

वे ज्वलित भाव थे स्वयम् तुभी में जागे ।
पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन में ?

क्या शेष बचा था कुछ न और इस जन में ?
कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र क्या तेरा ?

पर आज अन्य-सा हुआ वत्स भी मेरा !
थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,

जो कोई जो कह सके कहे क्यों चूके ।
छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझ से,

रे राम दुहाई करूँ और क्या तुझ से ।
कहते आते थे यही अभी नर-देही,

माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही ।
अब कहें सभी यह हाय ! विरुद्ध विधाता,

‘है पुत्र पुत्र हा, रहे कुमाता माता ।’
बस मैंने इसका बाह्य मात्र ही देखा,

टढ़ हृदय न देखा, मृदुल गात्र ही देखा ।
परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा,

इस कारण ही तो हाय आज यह बाधा ।
युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—

‘रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी ।
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा—

‘धिकार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा ।’
“सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,

जिस जननी ने है जना भरत सा भाई

पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई,

“सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।”

“हा ! लाल ! उसे भी आज गँवाया मैंने।

विकराल कुयश ही यहाँ कमाया मैंने !

निज स्वर्ग उसी पर वार दिया था मैंने,

हर तुम तक से अधिकार लिया था मैंने।

पर वही आज यह दीन हुआ रोता है,

शङ्कित सब से धृत हरिण-तुल्य होता है।

श्रीखण्ड आज अंगार-चण्ड है मेरा,

फिर इस से बढ़ कर कौन दण्ड है मेरा ?

पटके मैंने पद-पाणि मोह के नद में,

जन क्या क्या करते नहीं स्वप्न में, मद में ?

हा ! दण्ड कौन ? क्या उससे डरूँगी अब भी ?

मेरा विचार कुछ दयापूर्ण हो तब भी।

हा दया ! हन्त ! वह घृणा ! अहह वह करुणा !

वैतरणी - सी है आज जान्हवी - वरुणा !!

सह सकती हूँ चिर नरक सुनें सुविचारी,

पर मुझे स्वर्ग की दया दण्ड से भारी।

लेकर अपना यह कुलिश कठोर कलेजा,

मैंने इसके ही लिए, तुम्हें वन भेजा।

घर चलो इसी के लिए, न रूठो अब यों,

कुछ और कहूँ तो उसे सुनेंगे सब क्यों ?

मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे,

मेरे दुगुने प्रिय रहो न मुझ से न्यारे।

मैं इसे न जानू किन्तु जानते हो तुम।

अपने से पहले इसे मानते हो तुम।

तुम भ्राताओं का प्रेम परस्पर जैसा,
 यदि वह सब पर याँ प्रकट हुआ है वैसा,
 तो पाप-दोष भी पुण्य-तोष है मेरा,
 मैं रहूँ पङ्क्तिज्ञा, पद्म-कोष है मेरा ।
 आगत ज्ञानी जन, उच्च भाल ले ले कर,
 समझावें तुमको अतुल युक्तियाँ देकर ।
 मेरे तो एक असीर हृदय है बेटा,
 उसने फिर तुमको आज भुजा भर भेटा ।
 देवों की ही चिरकाल नहीं चलती हँ,
 दैत्यों की भी दुवृत्ति यहाँ फलती है ।”

कुणाल का त्याग—

अग्नि जीवन की ज्योती !
 मैं अन्धा भी देख रहा हूँ रोती हो तुम, रोती !
 क्या कुणाल को दीन जान कर,
 मन में करुणा क्लेश मान कर,
 नयन शुक्तियों में समान भर,
 देती हो ये मोती ?
 अग्नि जीवन की ज्योति !
 प्रिये आज तो त्याग दिवस है,
 सुख ही नहीं, दुःख भी बस है ।
 वह भी एक नया ही रस है,
 तुम क्यों कातर होती ?
 अग्निजीवन की ज्योति !
 गेह गया पर विश्व बड़ा है,
 सभी ओर पथ खुला पड़ा है ।
 लोक जाय, परलाक खड़ा है,

चलो, सींचती - बोती ।

अग्नि जीवन की ज्योति !

विश्व-प्रेम—

मैत्री - करुणा में कल्याण,

विश्व बन्धुता में ही त्राण ।

देश, काल गुण, कर्म, स्वभाव,

ये शाखाओं के अलगाव ।

खोलो तनिक मूल—प्रस्ताव,

तोलो साधन के परिणाम,

विश्व बन्धुता में ही त्राण ।

आकृति, वर्ण और बहु वेश,

ये सब निज वैचित्र्य विशेष ।

ढालो अन्तर्दृष्टि निमेष,

देखो अहा !! एक ही प्राण,

विश्व बन्धुता में ही त्राण ।

बाद विनोद बनें प्रत्यक्ष,

रहें विभिन्न हमारे पक्ष ।

एक मोक्ष ही सब का लक्ष,

करो उसी की ओर प्रयाण,

विश्व बन्धुता में ही त्राण ।

रुचि मूलक मानस के मन्थ,

भिन्न-भिन्न अपने मत-पन्थ ।

रहें अनेक अपार्थिव प्रन्थ,

मिलें एक के लाख प्रमाण,

विश्व-बन्धुता में ही त्राण ।

पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो—

पुरुष क्या, पुरुषार्थ हुआ न जो ;

हृदय की सब दुर्बलता तजो ।

प्रबल जो तुम में पुरुषार्थ हो—

सुलभ कौन तुम्हें न पदार्थ हो ?

प्रगति के पथ में विचरो उठो ;

पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

न पुरुषार्थ विना कुछ स्वार्थ है,

न पुरुषार्थ विना परमार्थ है ;

समझ लो, यह बात यथार्थ है—

कि पुरुषार्थ वही पुरुषार्थ है ।

भुवन में सुख-शान्ति भरो उठो ;

पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

न पुरुषार्थ विना वह स्वर्ग है ;

न पुरुषार्थ विना अपवर्ग है ।

न पुरुषार्थ विना क्रियता कहीं,

न पुरुषार्थ विना प्रियता कहीं ।

सफलता वर-तुल्य वरो, उठो ;

पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

न जिस में कुछ पौरुष हो यहाँ—

सफलता वह पा सकता कहाँ ?

अपुरुषार्थ भयङ्कर पाप है,

न उस में यश है, न प्रताप है ।

न कृमि-कीट-समान मरो, उठो ;

पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

मनुज जीवन में जय के लिए—

प्रथम ही दृढ़ पौरुष चाहिए ।

विजय तो पुरुषार्थ विना कहाँ ;

कठिन है चिर जीवन भी यहाँ ।

भय नहीं, भव-सिन्धु तरो, उठो ;

पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

यदि अनिष्ट अढ़ें, अड़ते रहें ।

विपुल विघ्न पड़ें, पड़ते रहें ।

हृदय में पुरुषार्थ रहे भरा—

जलधि क्या, नभ क्या, फिर क्या धरा ।

दृढ़ रहो, ध्रुव धैर्य्य धरो, उठो,

पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

यदि अभीष्ट तुम्हें निज सत्त्व है ;

प्रिय तुम्हें यदि मान महत्त्व है ।

यदि तुम्हें रखना निज नाम है ;

जगत में करना कुछ काम है ।

मनुज ! तो श्रम से न डरो, उठो ;

पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

प्रकट नित्य करो पुरुषार्थ को,

हृदय से तज दो सब स्वार्थ को ।

यदि कहीं तुम से परमार्थ हो—

यह विनश्वर देह कृतार्थ हो ।

सदय, हो पर दुःख हरो, उठो,

पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

जयशङ्कर 'प्रसाद'

‘प्रसाद’ जी हमारे साहित्य के सब से अधिक गम्भीर और दार्शनिक कवि थे। हिन्दी काव्य में छायावाद तथा भिन्नतुकान्त कविता के ये जन्मदाता थे। इनकी कृतियों ने हमारे साहित्य की मान-रक्षा की है, उसका मस्तक उन्नत किया है और विश्व-साहित्य में उस के लिये एक आदरणीय स्थान का निर्माण किया है।

इनका जन्म काशी में संवत् १९४६ में हुआ था और मृत्यु संवत् १९९४ में। इनके पिता बाबू देवोप्रसाद जी काशी के प्रसिद्ध रईस थे। संस्कृत-शिक्षा से उन्हें प्रेम था और स्वभाव के वे बड़े उदार थे। अनेक अभावग्रस्त और विद्याप्रेमी छात्रों को वे आर्थिक सहायता देकर संस्कृत के अध्ययन के लिये प्रोत्साहित किया करते थे। प्राचीन संस्कृत और साहित्य के प्रति जो ‘प्रसाद’ जी के हृदय में आदर था वह उनके पिता की ही देन थी। ‘प्रसाद’ जी की शिक्षा अधिकतर घर पर ही हुई। इतिहास, बौद्ध साहित्य, दर्शनशास्त्र तथा उपनिषदों से इन्हें बड़ा प्रेम था। इनका अध्ययन इन्होंने बड़े परिश्रम से किया था। कविता करने का शौक इन्हें बाल्यकाल से ही था। सात-आठ वर्ष की अवस्था में ही ये कविता करने लगे थे। प्रारम्भ में ये ब्रजभाषा में कविता किया करते थे, किन्तु शीघ्र ही समयानुसार खड़ी बोली की ओर प्रवृत्त हुए। इनकी कविता में भाव को प्रधानता प्राप्त है। कहीं-कहीं तो भाव इतना प्रमुख हो जाता है कि असली विषय लुप्त-सा हो जाता है। यह सब कुछ इनकी अत्यधिक विचारशीलता, दार्शनिकता तथा गहरी अनुभूति का फल है। इनकी कविता में लौकिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के अनुराग का मार्मिक चित्रण है। इनके लौकिक प्रेम के वर्णन, में प्रथम दर्शन वियोग संतप्त विरह-वेदना, मधुर

मिज़न आदि सब का यथास्थान वासना से अछूता मनोरम चित्रण है। आध्यात्मिक अनुराग के वर्णन में ये अदृश्य प्रियतम की खोज में तत्पर एक प्रेमी के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। विश्व के कण-कण में अपने आराध्य देव की सत्ता का अनुभव करते हैं, उस में अभेद रूप से मिल जाने के लिए विकल हो उठते हैं, साक्षात्कार के अभाव के कारण एक गहरे सूनेपन का अनुभव करते हैं। यह विकलता, यह वेदना सूनेपन का यह अनुभव मानव की आत्मा की अन्तःशुद्धि का साधन है। दुःख की कसौटी पर कसी हुई, वासना और मलिनता से रहित, मानव आत्मा के लिए अन्तिम मधुर मिज़न का पथ सुगम हो जाता है। आध्यात्मिक जीवन के इन रहस्यमय तथ्यों के वर्णन में कवि की भाषा स्वाभाविक तौर पर रहस्यमय हो गई है। 'प्रसाद' जी की कविता के भाव और भाषा दोनों अधिकांश में साधारण पाठकों की वस्तु नहीं। उन्हें समझने के लिए गहरे विचारों की क्षमता रखने वाला दिमाग और गहरी अनुभूति की क्षमता रखने वाला दिल चाहिए।

एक सफल कवि होने के अतिरिक्त 'प्रसाद' जी एक सफल नाटक-कार भी थे। ऐतिहासिक नाटक लिखने में ये सिद्धहस्त थे। इसके अतिरिक्त हिन्दी उपन्यास और कहानी साहित्य की वृद्धि में इन्होंने सफल योग दिया है।

इनकी मुख्य रचनाएँ ये हैं :—

कविता—कानन-कुसुम, प्रेम-पथिक, झरना, लहर, आँसू, कामायनी।

नाटक—राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ,

स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त।

उपन्यास—कंकाल, तिलली।

कहानी—झाया, प्रतिध्वनि, नवपल्लव, आँधी, आकाशदीप।

महाराणा का महत्त्व—

बैठे बैठे वन-शोभा थे देखते —

अपनी लाला भूमि सुगौरव कुञ्ज की ।
सालुम्बापति आये, अभिवादन किया ।
आर्यनाथ ने कहा—“कहो सर्दार जी,
समाचार है कैसा अब मेवाड़ का ?”
कृष्णसिंह ने कहा—“देव ! इस प्रांत में
एक बार फिर आर्य-राज्य अब हो गया,
वीर राजपूतों की तलवारें खुलीं,
चमक रही मेवाड़-गगन में ज्वलित हो,
भाग रहे हैं भीत यवन मेवाड़ से ।
राजन ! समाचार है सुखमय देश का,
अभी यवन का एक वृन्द बंदी हुआ,
राजकुंवर ने भेजा है उनको यहां,
दुर्ग द्वार पर वे बंदी हैं और भी—
सुनिए उस में है नवाब-पत्नी यहाँ ।”
आर्यनाथ ने कहा—“किया किसने उसे
बंदी ? स्त्री को क्षत्रिय देते दुःख नहीं ।”
कृष्णसिंह ने कहा—“प्रभो, उस युद्ध में
जितने बंदी हुए सभी भेजे गये ।
अब जो आज्ञा मिले वस वही ठीक है;
वही किया जावेगा, पर यह बात भी
ध्यान कीजिये, वह वनिता है शत्रु की ।
दिल्ली पति का सैन्य हो आया यहाँ

जो रहा मखाँ अकबर का चिर मित्र है
 उसकी हा परिणता है यह सुन्दरी
 इसका वदी रहना नैतिक दृष्टि से
 ठीक नहीं क्या ? जब तक ये सब शान्त हों
 कहा तमक कर तब प्रताप ने—'क्या कहा
 अनुचित बल से लेना काम मुकर्म है !
 इस अबला के बल से होंगे सबल क्या ?
 रण में टूटे ढाल तुम्हारी जो कभी
 तो बचने के लिए शत्रु के सामने
 पीठ करोगे ? नहीं, कभी ऐसा नहीं,
 हृद-प्रतिज्ञ यह हृदय, तुम्हारी ढाल बन
 तुम्हें बचावेगा । इस पर भी ध्यान दो
 घोर अधेरे में उठती जब लहर हो
 तुमल घात-प्रतिघात पवन का हो रहा
 भीमकाय जलराशि क्षुब्ध हो सामने
 कणधार-नक्षित हृद-हृदय सुनाव को
 छोड़ कूटना तिनके का अवलम्ब ले
 घोर सिन्धु में क्या बुवजत का काम है !
 परम सत्य का छोड़ न हटते वीर हैं ।
 सलुम्बाधिपते ! क्या अब होगा यही
 क्षत्रकर्म इस धर्मभूमि मेवाद में ?
 और 'अमर' ने ही नायक होकर स्वयं
 किया अधम इस लज्जाकर दुष्कर्म को !
 बस बस, ऐसे समाचार न सुनाइये
 शीघ्र उसे उसके स्वामी के पास अब
 भेज दीजिये, बिना एक भी दुःख दिये ।

सैनिक लोगों से मेरा संदेश यह
कहिये कभी न कोई क्षत्रिय आज से
अबला को दुःख दें, चाहे हों शत्रु की।

किरण—

किरण ! तुम क्यों बिखरी ह आज,
रंगी हो तुम किसके अनुराग ?
स्वर्ण-सरसिज किंजल्फ समान,
उड़ाती हो परम गुण-पराग।

धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश,
मधुर मुरली-सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल-
वेदना-दूता-सी तुम कौन ?

अरुणा शिशु के मुख पर सविलास
सुनहली-तट घुँघराली कान्त,
नाचती हा—जैसे तुम कौन ?
उषा के अंचल में अश्रु-श्रान्त।

भला, उस भोले मुख को छोड़
और चूमोगी किस का भाल,
मनोहर यह कैसा है मृत्यु,
कौन देता है सम पर ताल ?

कोकनद मधु धारा-सी तरल,
विश्व में बहती हो किस ओर,
प्रकृति को देती परमानन्द,
उठा कर सुन्दर सरस हिलोर।

स्वर्ग के सूत्र-सदृश तुम कौन ?
मिलाती हो उम से भूलोक ।
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध—
बना दोगी क्या विरज, विशोक !

सुदिनमणि-वलय विभूषित उपा—
सुन्दरी के कर का संकेत,
कर रही हो तुम किस को मधुर,
किसे दिखलाती प्रेम-निकेत ?

चपल, ठहरो—कुछ लो विश्राम,
चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त,
सुमन-मन्दिर के खोलो द्वार,
जगे फिर सोया वहाँ वसन्त ।

पतझड़ समीर—

चल बसंत-वाला-अंचल से किस घातक सौरभ में मस्त,
आतीं मलयानिल की लहरें जब दिनकर होता है अस्त ।
मधुकर से कर संधि, विचर कर उषा नदी के तट उस पार,
चूसा रस पत्ती-पत्ती से, फूलों का दे लाभ अपार ।
लगे रहे जो अभी डाल से बने आभरण फूलों के;
अवयव थे शृंगार रहे, जो मनमाला के झूलों से ।
आशा देकर गले लगाया, रुके न वे फिर रोके से;
उन्हें हिलाया, बहकाया भी, किधर उड़ाया झोंके से ।
कुम्हलाए, सूखे, पेंठे, फिर गिरे अलग हो वृन्तों से;
वे निरीह मर्माहत होकर, कुसुमाकर से कुन्तों से ।

नवपल्लव का सृजन ! तुच्छ है, किया बात से वध जब क्रूर;
 कौन फूल-सा हँसना देखे, वे अतीत से भी अब दूर।
 लिखा हुआ उनकी नस-नस में इस निर्दयता का इतिहास;
 तू अब 'आह' बनी घूमेगी, उनके अवशेषों के पास।

अव्यवस्थित—

विश्व के नीरव निर्जन में,
 जब करता हूँ केवल चंचल
 मानस को कुछ शान्त,
 होती है कुछ ऐसी हलचल
 तब होता है भ्रान्त—

भटकता है भ्रम के वन में
 विश्व के कुसुमित कानन में।

जब लेता हूँ आभारी हो
 वल्लरियों से दान,
 कलियों की माला बन जाती
 अलियों का हो गान;

विकलता बढ़ती हिमकन में,
 विश्वपति तेरे आँगन में।

जब करता हूँ कभी प्रार्थना
 कर संकलित विचार,
 तभी कामना के नूपुर की
 हो जाती भनकार,

चमत्कृत होता हूँ मन में
 विश्व के नीरव निर्जन में।

आदेश—

कौन कहता है कानों में,
किसी का कहना तू मत मान ।

अन्ध विश्वास दिलाते वे,
इसी में बनते हैं विद्वान ॥

शुद्ध मानस की लहरी लोल,
पंक्तियाँ पावन लिखीं विचित्र ।

छोड़ ममता पढ़ ले इस को,
यही है शुभ आदेश महान ॥

तोड़ कर बाधा बन्धन भेद,
भूल जा अहमिति का यह स्वार्थ ।

छुधा भर ले जीवन घट में,
द्वन्द्व का विष मत कर तू पान ॥

प्राथेना और तपस्या क्यों ?
पुजारी किसकी है यह भक्ति ।

डरा है तू निज पापों से,
इसी से करता निज अपमान ॥

दुखी पर करुणा क्षण भर हो,
प्रार्थना पहरों के बदले ।

मुझे विश्वास है कि वह सत्य,
करेगा आकर तब सम्मान ॥

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

ये अपनी शला के निराले कवि हैं। इनका उपनाम भी 'निराला' है। नवीन युग के प्रवर्तकों में इनका नाम आदर से लिया जाता है।

इन का जन्म महिषादल रियासत (मेदनीपुर-बंगाल) में संवत् १९२२ में हुआ था। इनके पिता पं० रामसहाय जी त्रिपाठी रियासत के एक राज्य कर्मचारी थे। इन की शिक्षा का प्रबन्ध रियासत की ओर से किया गया था। स्कूल में ये मैट्रिक्यूलेशन तक पढ़े। स्कूल छोड़ने के बाद इन्होंने संस्कृत साहित्य, संगीत और दर्शन का बहुत परिश्रम से अध्ययन किया और थोड़ी देर में ही इन में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। ये अभी २० वर्ष के ही थे कि इनकी पत्नी का देहान्त हो गया। इस दुर्घटना के बाद ये कलकत्ते चले आए और अद्वैताश्रम में रहने लगे। वहाँ इन्हें श्रीरामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से अध्ययन का सुअवसर मिला। वहाँ इन्होंने दो वर्ष तक 'समन्वय' का सम्पादन भी किया। इसके बाद कुछ दिनों तक हिन्दी के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'मतवाला' में भी काम करते रहे।

ये छोटी अवस्था में ही कविता करने लगे थे। इनकी मातृभाषा बङ्गला थी। इस लिए स्वाभाविक तौर पर ये पहले बङ्गला में ही कविता करते थे। हिन्दी में इनकी प्रवृत्ति स्कूल छोड़ने के बाद हुई थी। खड़ी बोली में अतुकान्त कविता लिखने में ये सिद्धहस्त हैं। इससे इन्हें पर्याप्त यश की भी प्राप्ति हुई है। हम ऊपर लिख चुके हैं कि ये अपनी शैली के निराले कवि हैं। यह निरालापन इन की भाषा और भाव दोनों में विद्यमान है। अपने संगीत-कौशल से इन्होंने पूरा-पूरा लाभ उठाया है और उसकी सहायता से इन्होंने अनेक नवीन

छन्दों की सृष्टि की है। इस स्वच्छन्दता ^{independence} का पहिले बड़ा विरोध हुआ था। परन्तु धीरे-धीरे अन्य कवियों के भी इसी ओर आ जाने पर यह शान्त हो गया। अब आलोचक इसे उस पुरानी कड़ी दृष्टि से नहीं देखते। इनके भावों में भी नवीनता है। दार्शनिकता की इन में प्रधानता है। ये अपनी दार्शनिकता की स्फुट अभिव्यक्ति के पक्ष में नहीं हैं। संकेत से काम लेने में इन्हें विशेष संतोष होता है। इनकी कविता में आध्यात्मिकता की भी मात्रा प्रचुर रहती है। इन अनेक कारणों से इनके काव्य में क्लिष्टता ^{difficultly in presentation} आ गई है। इनकी अनेक रचनाएँ दुरूह और परिश्रम से समझ में आने वाली होती हैं। कवि होने के अतिरिक्त 'निराला' जी एक सफल गद्य लेखक भी हैं। गद्य में इन्होंने अनेक निबन्ध, कथा और उपन्यास आदि लिखे हैं।

इनकी मुख्य-मुख्य रचनाएँ ये हैं—

काव्य—अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेजा नये पत्ते ।

उपन्यास—अप्सरा, अलका, निरुपमा, प्रभावती ।

गल्प—बिरुजी, सखी ।

आलोचना—रवीन्द्र-कविता-कानन ।

प्रभाती—

प्रिय मुद्रित दृग खोलो !

गत स्वप्न निशा को तिमिर जाल

नव किरणों से धोलो—

मुद्रित दृग खोलो !

जीवन-प्रसून वह वृन्तहीन

खुल गया उपा-नभ में नवीन,

धाराएँ ज्योति-सुरभि उर भर

वह चलीं चतुर्दिक कर्म लीन

तुम भी निज तरुण-तरंग खोल

नभ अरुण-संग हो लो—

मुद्रित दृग खोलो !

वासना-प्रेयसी बार - बार

श्रुति मधुर मन्द स्वर से पुकार

कहती, प्रतिदिन के उपवन के

जीवन में, प्रिय, आई बहार

बहती इस विमल वायु में

बह चलने का बल तो लो—

मुद्रित दृग खोलो !

भारत की विधवा—

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु का छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।

षड्ऋतुओं का शृङ्गार,
कुसुमित कानन में नोरव पद संचार,
अमर कल्पना में स्वच्छन्द विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है,
उसका एक स्वप्न अथवा है।

उसके मधु-सुहाग का दर्पण,
जिसमें देखा था उसने
बस एक बार बिम्बित अपना जीवन-धन,
अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यारा—वह ध्रुवतारा—
दूर हुआ वह बहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा।

हैं करुणा-रस से पुलकित इसकी आँखें,
देखा तो भीगीं मन-मधुकर की पाँखें,
मृदु रसावेग में निकला जो गुञ्जार
वह और न था कुछ, था बस हा-हा-कार।
उस करुणा की सरिता के मलिन-पुलिन पर
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ाकर,

अति छिन्न हुए भाँगे अञ्जल में मन को—
मुख-रुखे, सूखे अधर- त्रस्त चितवन को
वह दुनियाँ की नज़रों से दूर बचाकर
है रोता अस्फुट स्वर में,

सुनता हैं आकाश धीर, निश्चल समीर—
मृदु सरिता की लहरें भी ठहर-ठहर कर ।
यह दुःख वह, जिसका नहां कुछ छोर है,
दैव ! अत्याचार कैसा घोर और कठोर है !
क्या कभी पोंछे किसी के अश्रु जल ?
या किया करते रहे सब को विकल !
ओसकण-सा पल्लवों से भर गया ।
जो अश्रु, भारत का उसी से सर गया ॥

भिन्नक — *Realistic* — २१ अक्टूबर १९४७

वह आता—

break heart *never! is coming on*
दो टुक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता ।

पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,

चल रहा *small sticks* लकड़ियाँ टेक,

मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को

मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता—

दो टुक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता ॥

साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,

बाएं से वे मलते हुए पेट को चलते,

और दाहिना *sympathetic* दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए ।

भूख से सूख आँठ जब जाते,

दाता भाग्य-विधाता से क्या पाते—

घूट आँसुओं के पीकर रह जाते ।

चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और भयत लेने को उन से कुत्ते भी हैं अड़े हुए ।
ठहरो अहा मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूँगा,
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा ।

उद्बोधन—

गरज-गरज घन अन्धकार में गा अपने संगीत,
बन्धु, वे बाधा-बन्धु-विहीन,
आँखों में नवजीवन की तू अञ्जन लगा पुनीत,
बिखर भर जाने दे प्राचीन ।

बार-बार उर की वीणा में कर निष्ठुर भङ्गार
उठा तू भैरव निर्जन राग,
वहा उसी स्वर में सदियों का दारुण हाहाकार
सञ्चरित कर नूतन अनुराग ।

मन्द्र उठा बन्द-बन्द पर चलने वाली नान,
विश्व की नश्वरता कर नष्ट,
जीर्ण शीर्ण जो, दीर्ण धरा में प्राप्त करे अवसान,
रहे अवशिष्ट सत्य जो स्पष्ट ।

छोड़. छोड़ दे शङ्काएँ, रे निर्भर-गर्जित वीर ।
उठा केवल निर्मल निर्घोष,

देख सामने, बना अचल उपलों को उत्पल धीर !

प्राप्त कर फिर नीरव सन्तोष !

भर उद्दाम वेग से बाधाहर तू कर्कश प्राण,
दूर कर दे दुर्बल विश्वास,

किरणों की गति से आ, आ तू गा तू गौरव-गान,
एक कर दे पृथ्वी-आकाश ।

उत्साह—

बादल, गरजो !—

घेर घेर घोर गगन, धाराधर आ !

ललित ललित, काले घुँघरालें,

काल कल्पना के-से पाले,

विद्युत-छवि उर में, कवि, नव जीवन वाले !

वज्र छिपा, नूतन कविता

फिर भर दोः—

बादल, गरजो !

विश्व विकल, उन्मन थे उन्मन,

विश्व के निदाघ के सकल जन,

आये अज्ञात दिशा से अनन्त के घन !

तप्त धरा जल से फिर

शीतल कर दोः—

बादल गरजो !

महत्वाकांक्षा—

✓ नर-जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ,
मेरे श्रम-सञ्चित सब फल ।

जीवन के रथ पर चढ़ कर,
सदा मृत्यु-पथ पर बढ़ कर,
महाकाल के खरतर शर सह
सकूँ, मुझे तू कर दृढ़तर ।

जागे मेरे उर में तेरी
मूर्ति अश्रु-जल-धौत विमल,
दृग जल से पा बल, बलि कर दूँ
जननि, जन्म-श्रम-संचित फल ।

बाधाएँ आएँ तन पर
देखूँ तुझे, नयन-मन भर
मुझे देख तू सजल दृगों से
अपलक, उर के शतदल पर ।

क्लेदयुक्त अरना तन दूँगा,
मुक्त करूँगा तुझे अटल,
तेरे चरणों पर देकर बलि
सकल श्रेय श्रम-संचित फल ।

सुमित्रानन्दन 'पन्त'

इन का जन्म कौमानी ज़िला अल्मोड़ा में संवत् १९२८ में हुआ था। इन के पिता का नाम पं० गंगादत्त पन्त और माता का श्री सरस्वती देवी था। १९ वर्ष की अवस्था में इन्होंने एन्ट्रेंस पास किया और उसके बाद म्योर सैन्ट्रल कॉलेज से भर्ती होने के लिये ये प्रयाग चले आए। एफ. ए. की परीक्षा देने से पहले ही इन्होंने कॉलेज छोड़ दिया और उसके बाद घर पर ही अपनी रुचि के अनु-
कूल साहित्य के अध्ययन का सतत ^{Contribution} अभ्यास करते रहे। इन्होंने संस्कृत, हिन्दी, बङ्गला और अङ्गरेज़ी साहित्य का अध्ययन बड़े प्रेम और परिश्रम से किया है। इस विस्तृत अध्ययन से इनकी स्वाभाविक प्रतिभा के विकास में बड़ी सहायता मिली है।

'प्रसाद' और 'निराला' की तरह 'पन्त' जी ने अपनी कविता में छन्द, भाषा और भाव—इन तीनों के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता से काम लिया है। नवीन छन्दों की रचना के साथ-साथ भाषा के खरखरा-पन को दूर कर उस में मधुर, कोमल, कान्त पदावली की प्रतिष्ठा करने का इन्होंने सफल प्रयत्न किया है। किन्तु भाषा-सम्बन्धी बन्धनों के तोड़ने की धुन में कहीं-कहीं इन्होंने मर्यादा को भी जवाब दे दिया है। शब्दों के लिंग परिवर्तन में जिस स्वतन्त्रता का इन्होंने परिचय दिया है, यत्न करने पर भी हिन्दी जगत् उसे पूर्णतया अपनाने में असमर्थ हुआ है। इन के भावों की नूतनता और अलंकारिता हिन्दी साहित्य की अमूल्य संपत्ति है। *we call*

'पन्त' जी प्राकृतिक सौन्दर्य के अनन्य भक्त हैं। इस सौन्दर्य के जितने सजीव और मनोमुग्धकारी चित्र इनकी रचनाओं में बन पड़े

हैं, अन्यत्र नहीं ^{elsewhere}। प्रकृति और मानवता के बीच एक मधुर सम्बन्ध की सत्ता में इन का ^{जी-आर्क} अटल विश्वास है। जिस तरह अङ्गरेज़ी के प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ अपने आप में प्राकृतिक साहचर्य का पूरा आनन्द लेने की क्षमता रखते थे, ठीक उसी प्रकार से प्रकृति देवी की गोद में विकास को प्राप्त हुई 'पन्त' जी की अलौकिक प्रतिभा प्रकृति और मानव के बीच पूर्ण समन्वय का अनुभव करती है। प्रकृति के हर्ष, विषाद, विस्मय, संकोच, स्मृति आदि इनके हृदय को उसी प्रकार प्रभावित करते हैं जिस प्रकार मानवता के हर्ष, विषाद आदि भाव।

'पन्त' जी युगान्तरकारी कवि हैं। उत्कृष्ट कल्पना और सुकुमार भावना इन के काव्य की विशेषता है। जिस छायावादी कविता को 'प्रसाद' जी ने जन्म दिया था, 'पन्त' जी की रचनाओं द्वारा उसकी विशेष उन्नति हुई है।

बीणा, ग्रन्थि, उच्छ्वास, पल्लव, गुञ्जन, युगान्त, युगवाणी, स्वर्ण किरण, स्वर्णधूलि आदि इनकी अनेक रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। 'मधुज्वाला' नाम से इन्होंने उमरखयाम की रुवाइयों का गीतान्तर भी प्रस्तुत किया है।



कामना—

मेरा प्रतिपल सुन्दर हो,
प्रतिदिन सुन्दर सुखकर हो,
यह पल-पल का लघु जीवन
सुन्दर, सुखकर शुचितर हो !

हों बूँदें अस्थिर लघुतर,
सागर में बूँदें सागर,
यह एक बूँद जीवन का
मोती सा सरस, सुघर हो !

मधु ऋतु के कुसुम मनोहर,
कुसुमों का ही मधु प्रियतर,
यह एक मुकुल मानस का
प्रमुदित, मोदित, मधुमय हो !

मेरा प्रतिपल निर्भय हो,
निःसंशय, मंगलमय हो,
यह नव-नव पल का जीवन
प्रतिपल तन्मय, तन्मय हो !

मूक संदेश—

गाता खग प्रातः उठ कर
सुन्दर, सुखमय जग-जीवन,

मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुःख को अपनाना ।

काँटों से कुटिल भरी हो
यह जटिल जगत की डाली,
इस में ही तो जीवन के
पल्लव की फूटी लाली ।

अपनी डाली कै काँटे
वेधते नहीं अपना तन,
सोने-सा उज्ज्वल बनने
तपता-नित प्राणों का धन ।

दुःख-दावा से नव-अंकुर
पाता जग-जीवन का बन,
करुणार्द्र विश्व की गर्जन
बरसाती नव-जीवन कण !

जीवन का अधिकारी—

जो है समर्थ, जो शक्तिमान,
जीवन का है अधिकार उसे ,
उसकी लाठी का बैल विश्व,
पूजता सभ्य संसार उसे !

दुबेल का घातक दैव स्वयं,
समझो बस भू का भार उसे ।
'जैसे को तैसा'—नियम यही,
होना ही है संहार उसे ।

है दास परिस्थितियों का नर,
 रहना उसके अनुसार उसे ।
 जीता है योग्य सदा जग में,
 दुबन ही है आहार उसे !

तृण, भक्ष, पशु से नर-तन देता,
 जीवन-विकास का तार उसे ।
 वह शासन क्यों न करे भू पर,
 चुनना है सब का सार उसे ।

छाया—

कहो कौन हो दमयन्ती-सी
 तुम तरु के नीचे सोई ?
 हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
 अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई !

पले-पत्रों की शय्या पर
 तुम विरक्ति-सी, मूर्छा-सी-
 विजन-विपिन में कौन पड़ी हो
 विरह-मिलन-दुःख-विधुरा-सी ?

पछतावे की परछाईं-सी
 तुम भू पर छाई हो कौन ?
 दुर्बलता-सी अङ्गड़ाई-सी,
 अपराधी-सी भय से मौन !

निर्जनता के मानस-पट पर
 —बार-बार भर ठण्डी-साँस-
 क्या तुम छिप कर क्रूर-काल का
 लिखती हो अकल्प इतिहास ?

सखि ! भिखारिणी-सी तुम पथ पर,
फैला कर अपना अञ्चल,
सूखेपातों ही को पा क्या
प्रमुदित रहती हो प्रतिपत्त ?

ज्योतिर्मय शत-नयन खोल नित,
पुलकित पलक पसार अपार,
श्रान्त-यात्रियों का स्वागत क्या
करती हो तुम बा-म्बार ?

थके चरण-चिन्हों को अरना
नीरव-उत्सुकता से भर,
दिखा रही हो अथवा जग का
पर-सेवा का मार्ग अमर

दिनकर-कुल में दिव्य जन्म पा,
बढ़कर नित तरुवर के सग,
मुरभे पत्रों की साड़ी से
ढर कर अरने कोमत अंग,

सदुपदेश-सुमतों से तरु के
गूँथ हृदय का सुरभित-द्वार,
पर-सेवा-रत रहती हो तुम,
हरती नित पथ-श्रान्ति अपार ।

चूर्ण शिथिलता-सी अँगड़ा कर
होने दो अपने में लीन,
पर-पीड़ा से पीड़ित होना
अम्मे सिखा दो, कर मद-हीन ।

सियारासशरण गुप्त

इन का जन्म संवत् १९१२ में निरगाँव जिला कांसी में हुआ था। ये हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई हैं। इन्होंने अधिकतर विद्याभ्यास घर पर ही किया है। हिन्दी के अतिरिक्त बंगला, अङ्ग्रेजी, संस्कृत, उर्दू और मराठा साहित्य का भी इन्होंने अच्छा अध्ययन किया है। कविता करने की प्रवृत्ति इन्हें अपने पिता और बड़े भाई से मिली। सर्व प्रथम ये 'गुप्त' जी की देख-रेख में कविता किया करते थे। इनकी पहली रचनाओं पर गुप्त जी का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, स्व० श्री गणेश शंकर विद्यार्थी और मुंशी अजमेरी के संसर्ग से भी इन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

वर्तमान युग के खड़ी बोली के कवियों में इन का विशेष स्थान है। राष्ट्रीयता के गीत गाने वालों में इनकी रचनाएँ आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। उन में देश व जाति के नवयुवकों की कल्पना को उत्तेजित करने की पर्याप्त क्षमता है। भाव-प्रधान काव्य की रचना में भी इन्हें काफ़ी सफलता मिली है। रहस्यवाद व छायावाद सम्बन्धी इनकी अनेक रचनाएँ उच्चकोटि की हैं। साधारणतया इस प्रकार की रचनाओं में क्लृप्तता और अस्पष्टता का दोष आ जाता है किन्तु इनकी रचनाएँ इस दोष से विमुक्त हैं। इनके काव्य में काव्य-रस की प्रधानता रहती है। मानव हृदय की भावना और कथा के चित्रण में ये सिद्धहस्त हैं। कविता के अतिरिक्त इन्होंने कहानी, नाटक और उपन्यास भी लिखे हैं। इनकी मुख्य रचनाएँ ये हैं :—

काव्य—मौर्यविजय, अनन्ध, पाथेय, आर्द्रा, वृक्षादल, विषाद,
उन्मुक्त ।

कहानी—कोटर-कुटीर, मानुषी ।

उपन्यास—गोद ।

नाटक—पुष्पवर्षा ।

गीतिनाट्य - निष्क्रिय-प्रतिरोध, कृष्णकुमारी ।

सुजीवन—

हे ^{God} जीवन-स्वामी तुम हम को
जल-सा उज्ज्वल जीवन दो !

हमें सदा जल के समान हो ^{also}
स्वच्छ और निर्मल मन दो !

रहें सदा हम क्यों न अतल में, ^{deep in}
^{valleys} किन्तु दूसरों के हित पल में, ^{second}

^{mountain} आवें अचल फोड़ कर थल में, ^{surface}
ऐसा शक्तिपूर्ण तन दो ! ^{strong}

स्थान न क्यों नीचे ही पावें,
पर तप में ऊार चढ़ जावें, ^{penance}

गिर कर भी क्षिति को सरसावें, ^{earth}
ऐसा सत्साहस धन दो !
^{To prosper}

पूजन--

what is the use of praying god
पद-पूजन का भी क्या उपाय ?

तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्गकाय ! high body

clean-white तू अमल-धवल है, मैं श्यामल; black

Comparison { ऊँचे पर हैं तेरे पद-तल, superior
यह हूं मैं नीचे का तृण-दल । grass

पहुँचूं उन तक किस भाँति हाय !

तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्गकाय !

Numerous हों शत-शत भक्तावात प्रबल, hurri-

फिर भी स्वभावतः तू अविचल ।

for short time मैं तनिक-तनिक में चिर-चञ्चल, always

मेढ़ें कैसे यह अन्तराय ! difference un-

तू गौरव-गिरि उत्तुङ्गकाय !

non-stopping अवि-त तेरा करुणा-निर्भर, the en-

Numerous अगणित धर ओस भर-भर, flow

जीवित, रखता है जीवन भर

मेरा यह जीवन जड़ितप्राय, non living

तू गौरव-गिरि उत्तुङ्गकाय !

which cannot be reached हैं जहाँ अगम्य दिवाकर-कर rays &

caves तेरें गह्वर भी आकर वर best

हैं ऊँचां से भी ऊँचे पर,

मन उन तक भी किस भाँति जाय ? how ?

तू गौरव-गिरि उत्तुङ्गकाय !

शंख-नाद—

(१)

मृत्युञ्जय, इस घट में अपना
 कालकूट भर दे तू आज,
 ओ मंगलमय, पूणे, सदाशिव,
 रुद्र रूप, धर ले तू आज !
 चिर-निद्रित भी जाग उठे हम,
 कर दे तू ऐसी हुँकार,
 मद-मत्तों का मद उतार दे
 दुर्धर, तेरा दंड प्रहार ।
 हम अंधे भी देख सकें कुछ,
 धधका दे प्रलय-ज्वाला;
 उस में पड़ कर भस्म-शेष हो
 है जो जड़ जर्जर निस्सार ।
 यह मृत-शांति असह्य हो उठी,
 छिन्न इसे कर दे तू आज;
 मृत्युञ्जय, इस घट में अपना
 कालकूट भर दे तू आज !

(२)

ओ कठोर, तेरी कठोरता
 कर दे हम को कुलिश-कठोर;
 विचलित कर न सके कोई भी
 भ्रम की दाहण भ्रमभोर ।

सिर के ऊपर के प्रहार सब
 सुमन-समूह-समान भड़े;
 पैरों के नीचे के काँटे
 मृदु मृणाल से जान दड़े।

भय के दीप्तानल में धँस कर
 उसे बुझा दें पैरों में;
 छाती खोल गवने में अड़ कर
 विपदाओं के साथ लड़े।

तेरा सुदृढ़ कवच पहने हम
 घूम सकें चाहे जिस ओर;
 ओ कठोर, तेरी कठोरता,
 कर दे हमको कुलिश-कठोर !

(३)

ओ दुस्सह, तेरी दुस्सहता
 सहज सह्य हम वो हो जाय,
 तेरे प्रलय-वर्णों की धारा
 निर्मल कर हमको धो जाय।

अशनि-पात में निर्घोषित हो,
 विजय-घोर इस जीवन का;
 तबित्तेज में चिर ज्योतिर्मय,
 हो उत्थान-पतन तन का।

बंधन-जाल तोड़ कर सहसा
 इधर-उधर के कूलों का;
 तेरी उच्छ्वसित वन्या में
 पागलपन हो इस मन का।

निजता की संकीर्ण क्षुद्रता
 तेरे सुविपुल में खा जाय;
 ओ दुस्सा, तेरी दुस्मिता
 सहज सह्य हमको हो जाय।

(४)

ओ कृता, हम के भी दे जा
 निज कृता तत्ता का कुछ अंश;
 नई सृष्टि के नवोल्लास में
 फूट पड़े तेरा विभ्रंश।

नव भूखंड अमृत के घट-सा
 दे ऊपर की ओर उछाल,—
 सागर का अंतर्लोल मथकर
 तेरे विप्लव का भूचाल।

शीर्ण शीर्ण के दुर्गों के,
 कुसंस्कार के स्तूरी का
 ढा दे एक साथ ही उठ कर,
 दुर्जय तेरा क्रोध कराए।

कुछ भी मूल्य नहीं जीवन का
 हो यदि उसके पास न ध्वंस,
 ओ कृतांत, हमको भी दे जा
 निज कृतांतता का कुछ अंश ।

(५)

ओ भैरव, कवि की वाणी का
 मृदु माधुर्य लजा दे आज,
 वंशी के ओंठों पर अपना
 निर्मम शंख बजा दे आज !

नभ को छूकर दूर-दूर तक
 गूँज उठे तेरा जय-नाद;
 घर के भीतर छिपे पड़े जो
 बाहर निकल पड़े साल्हाद ।

तिमिर-सिंधु में कूद, तैर कर
 सुप्रभात-से उठ आवें,
 निखिल संकटों के भीतर भी
 पावें तेरा पुण्य प्रसाद !

जीवन-रण के योग्य हमारा
 निर्भय साज सजा दे आज;
 ओ भैरव, कवि की वाणी में
 निर्मम शंख बजा दे आज !

यात्री—

(१)

कैसे पैर बढ़ाऊँ मैं ?

इस घन-गहन-विजन के भीतर

मार्ग कहाँ जो जाऊँ मैं ?

कुटिल-कँटीले भंखाड़ों में

उत्तरीय उड़ कर मेरा

उलझ-उलझ जाता है, इसको

कहाँ-कहाँ सुलभाऊँ मैं ?

कहीं धँसी है धरा रत्त में,

कहीं चढ़ी है टीलों पर;

मुक्त विहंग-सा उड़ जाऊँ जो

पंख कहाँ से लाऊँ मैं ?

(२)

पंख कहाँ से लाऊँ मैं

अरे, पैर ही क्या कुछ कम हैं

क्यों न अभी बढ़ जाऊँ मैं ?

उत्तरीय का क्या, यह तनु भी

क्षतच्छिन्न हो जाने दूँ ।

इन शतशत कांटों में विध्वंस

लक्ष्य-लाभ निज पाऊँ मैं ।

गह्वर टीले इधर-उधर हैं;

मुझ को पथ देने को ही;

अपने इन पद चिन्हों पर ही

नूतन मार्ग बनाऊँ मैं !

कुछ हो, पैर बढ़ाऊँ मैं ।

घट—

कृटिल कंकड़ों की कर्कश रज
मल-मल कर सारे तन में,
किस निर्मम निर्दय ने मुझ को
बाँधा है इस बन्धन में ?

फाँसी-सी है पड़ी गले में
नीचे गिरता जाता हूँ;
बार बार इस अन्ध-कूप में
इधर उधर टकराता हूँ ।

ऊपर-नीचे तम ही तम है
बन्धन है अवलम्ब यहाँ !
यह भी नहीं समझ में आता
गिर कर मैं ज. रहा कहाँ !

कँप रहा हूँ भय के मारे
हुआ जा रहा हूँ श्रियमाण,
ऐसे दुःखमय जीवन से । !
किस प्रकार पाऊँ मैं त्राण ?

सभी तरह हूँ विवश, करूँ क्या ?
नहीं दीखता एक उपाय;
यह क्या ? यह तो डगन नीर है,
झूठा ! अब झूठा मैं हूँ !

भगवान् ! हाय बचा लो अब तो,
 तुम्हें पुकारूँ मैं जब तक;
 हुआ तुरन्त निमग्न नीर में
 आर्तनाद कर के अब तक ।

अरे, कहाँ वह गई रिक्तता,
 भय का भी अब पता नहीं,
 गौरवान् हुआ हूँ सहपा,
 बना रहूँ तो क्यों न यहीं ।

पर मैं ऊपर चढ़ा जा रहा
 उज्ज्वलतर जीवन लेकर,
 तुम से उच्छ्रय नहीं हो सकना
 यह नवजीवन भी देकर ।

— — —

उदयशंकर भट्ट

उदयशंकर भट्ट का जन्म कर्णवास ज़िला बुलन्दशहर में संवत् १९१२ में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री फ-तेशंकर दुर्गाशंकर महता था। ये प्राध्वरुतर पंजाय मं रहे हैं। यहीं इन्होंने शास्त्री परीक्षा पास करने के अनन्तर अनेक संस्थाओं में अध्यापन कार्य किया है।

संस्कृत हिन्दी के अतिरिक्त इन्होंने गुजराती और अङ्गरेज़ी साहित्य का भी अच्छा अध्ययन किया।

भट्ट जी ने काव्य और नाटक—साहित्य के इन दोनों मुख्य अङ्गों का बड़ी सफलतापूर्वक शृङ्गार किया है। काव्य क्षेत्र में ये बुद्धिवाद की पताका लेकर अवतीर्ण हुए हैं। भाग्यवाद अथवा कर्मवाद में इनकी आस्था नहीं है। मानव परिस्थितियों का दास न होकर स्वामी है, वह स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है, कर्मवाद की आड़ में उन्नति के पथ से उसे रोकने का कांशिश करना कोरी अध्यात्महीनता है—ऐसा ये मानते हैं। ये मानव के पुरुषार्थ में ही उसके उज्ज्वल भविष्य का दर्शन करते हैं, केवल दयालु प्रभु की दया पर आश्रित रहने में नहीं। इनके काव्य में समाज के रूढ़िगत बन्धनों, विश्व के प्रत्यक्ष अन्याय, और धर्म के सारहीन हिंसात्मक स्वरूप के प्रति उग्र विद्रोह की भावना के दर्शन होते हैं। दार्शनिकता, मौलिकता, और यथार्थता इनकी कविता की विशेषताएँ हैं। आधुनिक परिभाषा के अनुसार इनका काव्य प्रगतिवाद से सम्बन्ध रखता है। तत्त्वशिला, राका, मानसी, विश्वामित्र, मत्स्यगन्धा, विसजन, अमृत और विष, युगदीप आदि इनकी रचनाएँ हिन्दी जगत् में अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुकी है।

‘यथार्थ और कल्पना’ इनकी नवीनतम कविताओं का संग्रह है। काव्य के अतिरिक्त नाटक-क्षेत्र में भी भट्ट जी ने स्थायी आदर और यश प्राप्त किया है। हिन्दी में दुःखान्त नाटक सर्व-प्रथम इन्होंने ही लिखे हैं। इन्हें अपनी पुस्तकों पर पंजाब सरकार की ओर से कई बार पुरस्कार भी मिल चुका है। विक्रमादित्य, दाहर, सगर-विजय, अम्बा, वमला आदि इनकी नाटक रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इन में से कई एक को पंजाब विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में स्थान मिल चुका है। मुक्ति-पथ इन की नवीनतम नाटक रचना है।

अध्यात्महीन जीवन—

यह 'अध्यात्मवाद' नीरस के
जीवन का है मजु कहानी,
जहाँ ईश्वर के बल पर नर
करता घर जाती मनमानी ।

पूर्व-जन्म का पूर्व-कर्म का
उलझन में जय को भटकाता;
आलस, भोग और कर्मों का
दलदल फैला उसे गिराता ।

गिरे हुए ही कुछ जन्में हैं
वे न उठ सकें, उठ न सकेंगे,
वे परवश हैं पूर्व कर्म-वश
भोगेंगे दुख छुट न सकेंगे ।

वह पीड़ित है, व्यथित दुखी है
उसने शैशव से दुख देखा,
उसे बचा सकता कब कोई
जब कि भाग्य में ऐसी रेखा ।

शत्रु अकारण दुख दे रहा
लूट रहा है, मार रहा है,
और न्यायी प्रभु देख रहा है
पर पद पद पर दार रहा है ।

कुछ न कर सका पीड़ित के प्रति
कुछ न किया है अब तक उसने,
कुछ न करेगा आगे भी वह
निबेल को देगा यों चुसने ।

भूखों मरता है वह बालक
सब कुछ होते हुए यहाँ पर,
कोन पाप था, कोन कर्म था
बतलाया न कभी भी आकर ।

यह 'अध्यात्म' हीन जीवन है,
यही ढोंग है, आडम्बर है,
यहाँ न भूतल है, जल ही है
केवल उसका स्वर ही स्वर है ।

जीवन-पथ—

वह रवि कदाँ प्रकाशित होकर
भी मुझ में आलोक भर सका,
यह शीतल विधु किरणों द्वारा
युग युग का अज्ञान हर सका ।

ये तारे गिन सके न मेरी
आहों को, ऋतु बदल न पाया,
मैं हूँ कोन बोलता भीतर
जो मेरा जीवन बन आया ?

देखों, ज्यों दिन के छोरों पर
सुवह शाम की गाँठ लगी है,
उसी तरह जीवन में भी तो
दुख-सुख की अभिव्यक्ति जमी है ।

कोई मुझ को कुछ कहता है
कोई मुझ को कुछ कहता है,
मैं अपने को कुछ कहता हूँ
जग में क्या होता रहता है !

जीवन मेरा एक गाँठ है
जिसको जग सुलभा न सकेगा,
केवल मरण ज्ञान-धन बन कर
मेरी गुलफट खोल सकेगा ।

इस अतीत के औँ' भविष्य के
पङ्क्तों पर ज्यों वर्तमान है,
त्यों स्मृति, आशा के पङ्क्तों पर
उड़ता जीवन का विमान है ।

आओ, मानव के अन्तर को
भर दो अमर अचल प्राणों से,
आओ, कल्प कल्प के धन ओ,
भर दो जीवन मुसकानों से ।

आओ शत शत स्वर्गों के सुख
भर जाओ जग के अभिनय में,

आओ करुणा के कम्पित कण,
भर जाओ जीवन की लय में ।

जीवन श्वेत धार है जल की
जिन में कोई रङ्ग नहीं है,
जिसमें निश्चित स्वर्ग नहीं है,
जिसमें निश्चित नरक नहीं है ।

यह केवल मानव का भ्रम है
जो सुख-दुख निर्माण कर रहा,
आशा और निराशा में हँस,
रोकर अमृत प्राण भर रहा ।

भूख और भोजन, जल तृष्णा
औषध रोग, गरीबी, दौलत,
भाव, अभाव, प्रेम और पीड़ा,
शीत, उष्ण, सुख-दुख, अविषय, पथ ।

लघु, विशाल, ऊँचे और नीचे
हीन, महान में वही 'अहं' है
मूक और वाचाल बधर और
सुनने वाला मनुज स्वयं है ।

कम चौड़ी दीवार दुर्ग-सा,
लम्बा एक पन्थ जीवन का,
जिसके दायें बायें गहरा,
मोहक सागर बहा जलन का ।

कोई एक हजरो में ही
पार पन्थ कर पाता मानव,
बाकी डूब डूब कर सारे,
चिल्लाते करहाते जब तब।

आज जगत् की उथल-पुथल में—

अरे, फेर दो सुधा रसीली म अब विष पीने आया हूँ,
किमी नशे की चाह नहीं, पी सर्वनाश जीने आया हूँ।
भड़क-भड़क कर आग जगत् की पल को पी कर बढ़ती जाती,
किसी सृजन के लिए नाश के सोपानों पर चढ़ती जाती।

संचित मलयानिल से जिसने कलि के अवरो को खोला था,
रजनी के उन्मुक्त हृदय से जीवन जहाँ फूट बोला था।
जिसने सुख के मंदिर गीत में आशा आ आसव घोला था,
जहाँ बड़ाने गिरे हुए के क्रंदन से निज यश तोला था।

वहाँ आज यह उथल पुथल क्यों वहाँ जली क्यों दावानल है,
अन्धा भी यह देख रहा है 'ऊँचे' की आँवों में जल है।
चिनगायियाँ तुच्छ सी उड़ क्यों नभ में आग लगाने चल दीं,
और चटक कर घास, फूस, तरु के अरमान जलाने चल दीं।

आज काँप क्यों रही महल की नभ-चुम्बी यह शान न जाने !
आज झोंपड़ा के आगे क्यों मछों से अरमान न जाने !
आज हिमालय से भी ऊँचे किसके जगे पाप न जाने !
ढगमग हुआ नियति का आसन देखा क्या अभिशाप न जाने !

कौन पुकार रहा ऊँचे को 'नीचे आओ, नीचे आओ'
 कौन कह रहा है स्वामी से, 'मेरे पैरों पर गिर जाओ।'
 कौन कह रहा है सिंहासन लकड़ा के कुछ सुन्दर टुकड़े,
 कौन कह रहा है कानों में 'नृप के पैर धरा से लज्जड़े।'

बढ़ता ही जाता कोलाहल गिरता क्यों जाता है 'ऊँचा'?
 उठता क्यों जाता है 'नीचा'? क्या से क्या हा गया समचा!
 क्या अम्बर के सभा गर्व मिल इमे धून में मिला सर्वेग?
 क्या विभूति के शतशत बल मिल पीड़ा-पर्वत हिला सकेंगे?

समय हुआ क्या अश्रु बिन्दु में सागर समा जायेंगे सारे!
 व्यर्थन हृदय की आशों में हो राख रहेंगे दिनकर, तारे।
 समय हुआ क्या आज धर्म को आडम्बर से दटना होगा!
 और रूढ़ियों को भविष्य की पावक में जल भिटना होगा!

समय हुआ क्या विषम हटा कर सम की लय पर गना होगा!
 या दैभव को महानाश में नाम शेष हो जाना होगा!
 देखो, सब विश्वास जगत् के एक फूँक में उड़ जा रहे,
 देखो, सब जीवन परिवर्तन की लहरों में जुड़े जा रहे।

दिवस, दिवस भी जले जा रहे रजनी के लघु आंगारों में,
 आर मरण भी लगे उगलने जीवन अपने उपचारों में।
 भू-विस्फोट, मेघ-गर्जन, औ' सर्वनाश हम से कह जाते,
 'महामरण' में महासृजन का क्या तुन कोई तार न पाते!

आज देय भी उपादेय है आज गरल मेरा जीवन है,
 आज प्राण की विकल मूर्छना नए काव्य का आवाहन है।

आज धूत में बीज मिलाना कल के कल्पद्रुम का फल है,
आज जगत् की उथल-पुथल में छिपा हमारा सुन्दर कल है ।

मेरा बचपन—

मैं गाड़ी से उतरा ही था कंई मुझे गुदगुदा भागा ।
मुझे न था मातृम कहाँ मैं आया और कहाँ पर जागा ।
मुँह में दिये अंगूठा पग का मैं कोने में पड़ा हुआ था ।
मैंने देखा एक अनोखा सुघड़ खिलाड़ी खड़ा हुआ था ॥

छुटनों के बल मुझे नचाकर 'तिरु-तिक' करता आया बचपन ।
आप नाच कर मुझे नचाता एक नया जग लाया बचपन ।
आँख मिचोनी खेल रहे थे हम दोनों फिर यह क्या पाया ।
उसे पकड़ने आगे दौड़ा वह पीछे ही कहीं बिलाया ॥

पीछे मुड़ कर देखा मैंने देखा बचपन दूर खड़ा था ।
मैं पीछे मुड़ सग न वह भी अपनी धुन में वहीं अड़ा था ।
टूट गई कच्ची रस्सी सी उसने वहीं मित्रता मेरी ।
किसी एक जादूगरनी ने आ जादू की लकड़ी फेरी ॥

अब भी आँखें दूँढ रही हैं रोज सुबह अल्हड़पन अपना ।
अब भी आँखों में हँसता है उस माँठी दुनिया का सपना ।
अरे इधर ही कहीं छिपी है सुघड़ खिलौनों भरी पिटारी ।
जरा दूँढ लाऊँ मैं ठहरो, बचपन की वह मधुर खुमारी ॥

अरे, कहाँ मैं भूला अपना सादा सुनहला बग हरा सा ?
कहाँ भूल आया हूँ अपना वह बचपन संगीत भरा सा ?
अब तो बचपन एक कहानी दादी जहाँ रोज घुम आती ।
जहाँ रात को परियाँ आ कर उडनखटोले पर ले जाती ॥

चलो भूल जाओ, वह अब तो कहीं हो गया मीठा सपना ।
 अब तो सम्मुख रात खड़ी है अब तो जीवन सदा कलपना ।
 कौन दौड़ दी सका यहाँ है पीछे को अपने जीवन में,
 और पकड़ ही पाया किसने बीत जग आगे की धुन में ?

जीवन-भाँकी—

आज विवशताएँ प्राणों की
 एक नया तूफान लिये हैं,

कल्पितों की चिन्ता सजा कर विनगारी के गान लिये हैं ।

कैसे रोक सकू अन्तर के
 हाहाकार तुम्हारे समय से,
 कैसे सतत पराजय रोकू,
 अपनी कल्पित क्षणिक विजय से ?

जीवन-महलों की नीवों में
 शैशव के सुख गाड़ चुका हूँ ;
 यौवन-कंगूरों से उड़ते
 मीठे स्वप्न उखाड़ चुका हूँ ;

आँखों तूफानों से बीने
 वे दिन अब कुछ याद नहीं हैं,

आँखों में चुभती आँखों के
 पुलकित पल आवाद नहीं हैं ;
 कुछ स्मृतियाँ हैं भार हृदय की,
 कुछ जीवन मुस्कान लिये हैं ;

आज विवशताएँ प्राणों को एक नया तूफान लिये हैं ।

विषम-निशा के लम्बे पथ पर
हम युग युग से चलते आए,
चले जागते, चले मुप्त भी
थके, ठहरने किन्तु न पाए;

पीछे कोई नहीं है सार्थी
आगे का पथ ज्ञात नहीं है;
फिर भी चलना यदपि अन्धेरा
रोके ऐसी रात नहीं है!

कहाँ चला हूँ कब पहुँचूँगा
बिना लक्ष्य क्या चलने जाना!
कहीं किनारा नहीं दीवता
मेरा पन्थ दूर अनजाना:

अंग अंग टूटे जाते हैं
सर्ज़ी सब छूटे जाते हैं!
मेरे भग्न-श्वस्त से जग के
मीठे सपने टकराते हैं:

अन्तिम पृष्ठ उलट देने का
कोई खड़ा विधान लिये है,
आज विवशताएँ जीवन की एक नया तूफान लिये हैं।

ठहरो, एक नज़र भी क्यों मैं
डाँत न लूँ दुनिया के ऊपर?
ठहरो, रुकने से पहले ही
क्यों न टटोलूँ, अन्तर के स्वर?

पर पीछे मुड़ सकने का तो
जग में यहाँ विधान नहीं है,
कोई कहता—“चलो मुझाफिर
पीछे रिक्त स्थान नहीं है !”

चलना हूँ, चलता जाता हूँ,
अंधकार में बढ़ता जाता;
आलस्यन लेकर अतीत का
निज आगत को घड़ता जाता;

देखो, उ्यों दिन के छोरों पर
सुबह शाम की गांठ लगी है;
इसी तरह जीवन कोनों पर
गत, आगत अनुरक्ति जगी है;

इस अतीत के औं, भविष्य के
पंखों पर उ्यों वर्तमान है,
त्यों स्मृति आशा के पंखों पर
उड़ता जीवन का विमान है;

कहीं लक्ष्य पर जा गिरने को
तीर चला संधान लिये है,
आज विवशनाएँ प्राणों की
एक नया तूफान लिये है ।

अमृत और विष—

हिम शृंगों से उच्च उमंगें,
अद्यपि साढ़े तीन हाथ तुम !

पोर पोर भूगोत तुम्हारे,
उड़ते रहे खाल साथ तुम !

निद्रा से गाढ़ी अन्धेरी,
एक श्वास में पीने वाले !
आज हो गए इतने बेवम,
उठा न पाते जरा माथ तुम !

उठो उठो, शोणित की धारें,
रोक नहीं पायेंगी पथ को !
नभ-चुम्बो अंगार दहकने,
रोकेंगे क्या मनु के रथ को ?

दो छोरों में रात छिपी है,
दो जावन के बीच मोत है ।
उसे पार करना ही होगा,
“इति” है दूर न “देखो” अथ को ।

विश्व युद्ध है, प्रकृति युद्ध है;
प्राण युद्ध है अरे प्रयोगी !
सदा तुम्हें तो बढ़ते जाना,
लड़ते जाना आत्म-नियोगी !

आँधी तूफानों से लटकर,
लच्य-बेच करना ही होगा—
पर्दा नहीं—शूल, बंबों से,
पटी हुई यह पृथ्वी होगी !

अमृत रखा सागर के तट में,
 लहर लहर से लड़ना हागा ।
 बिन पतवार बिना नैया के—
 खारे जल में बढ़ना होगा ।
 डूब गए ! फिर उछलो साहस—
 साथी का मत खोना मानव ।
 अमृत मिलेगा, गरल हटाओ,
 हालाहल पी चलता हागा ।

उद्बोधन—

अन्धकार, अन्धकार, अन्धकार, चीर चल !
 उग रही उपा उधर, उग रहा दिन सकल !
 रोक मन प्रकाश को, रोक मत विकास को,
 रोक अश्रद्धास को—मानव उच्छङ्खल !
 भूख है, अशान्ति है, युद्ध और क्रान्ति है,
 क्रान्ति विश्व-शान्ति है—हो न तू निर्बल !
 लड़ रहे आज ये, लड़ रहे राज ये,
 स्वार्थ के समाज ये—खून के रच महल !
 युद्ध है बाज़ार में, युद्ध है विचार में,
 बाज़ार की पुकार में—युद्ध है आजकल !
 असमान फट रहे औ, शमशान पट रहे,
 तख्त भी उल्टट रहे—देख देख पल पल !
 मनुष्य मात्र एक है, मनुष्य ही विवेक है,
 मार्ग यदि अनेक हैं—लक्ष्य एक उज्ज्वल !
 अन्धकार, अन्धकार, अन्धकार, चीर चल

महादेवी वर्मा

इन का जन्म संवत् १८६४ में फरुखाबाद में हुआ था। इनके पिता बाबू गोविन्द प्रसाद वर्मा एक प्रसिद्ध वकील हैं। इन की प्रारम्भिक शिक्षा इन्होंने ही हुई। इसके बाद प्रयाग आ गई और वहीं संवत् १८८१ में इन्होंने संस्कृत और फिलॉसफी लेकर बी. ए. की परीक्षा पास की। स्वास्थ्य कुछ ठीक न रहने के कारण इन्हें एक वर्ष तक अध्ययन छोड़ना पड़ा। दूसरे वर्ष इन्होंने संस्कृत में म. ए. पास किया। चित्रकला और संगीत का इन्हें बड़ा शौक है। साहित्य-जगत में इन के गीतों की काफी सिद्धि हो चुकी है आज कल ये प्रयाग महिला विद्यापीठ में प्रिन्सिपल और चाँद की सम्पादिका हैं।

आजकल के रहस्यवादी कवियों में श्रीमती वर्मा जो का विशेष स्थान है। इनकी कृति में काव्य और कला—उन दोनों का अपूर्व सामंजस्य है। इनकी कविता में करुण वेदना और निराशा की प्रमुखता है। इसमें युग-युग के प्रयत्नों के बाद भी अपने उगास्यदेव के मधुर अवपाद-रहित लोक तक पहुँचने में असमर्थ हृदय के सूनेपन के दर्शन होते हैं। दुःख और वेदना के प्रति इनके कर्ण हृदय में विशेष स्नेह है। दुःख के अपनाने में ये कवि का मोक्ष समझती हैं। दुःख इनके अपने कथनानुसार, जीवन का एक ऐसा काव्य है जो सारे सभार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। वेदना का जितना मार्मिक और भावुक चित्रण इनकी रचनाओं में हो पाया है, दूसरे कवियों की कृतियों में नहीं। इनकी कविता में गहरी अनुभूति की अविश्वस्यता है। और स्वाभाविक तौर पर कृत्रिमता का पूर्ण अभाव।

नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्य गीत आदि इनकी अनेक रचनाएँ हिन्दी संसार में अमर ख्याति और आदर प्राप्त कर चुकी हैं। दाप शिखा इनकी अत्युत्तम रचना है। यह इनकी मार्मिक दाशनिकता और अनुभूति की अमर देन है। चिरकाल तक इसका द्वारा उद्धान्त मान्यता का पथ-प्रदर्शन होता रहेगा—ऐसा हमारा विश्वास है। नीरजा पर इन्हें हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की ओर से २००) रुपये का संस्कारिया पारितोषिक मिला चुका है।

अभिमान—

आलोक वहाँ लुटता है *plunder*

बुझ जाते हैं तारागण,

अविराम जला करता है

पर मेरा दीपक सा मन !

जिसकी विराल छाया में *What*

जग बादक सा सोता है,

मेरी आँखों में वह दुख

आँसू बन कर रोता है !

जग हँस कर कह देता है

मेरी आँखें हैं निर्धन,

इनके बरसाये माँती—

क्या वह अब तक पाया गिन ?

मेरी लघुता पर आती *light road*

जिस दिव्य लंक को ब्रीड़ा, *charnel*

उसके प्राणों से पूछो

वे पाल सकग पीड़ा ? *parry*

उनसे कैसे छोटा हूँ

मेरा यह भिन्नक जीवन ?

उनमें अनन्त करुणा है

इसमें असीम सूनापन ।

मुरझाया फूल—

था कभी के रूप, शैशव में अहो सूखे सुमन !

हास्य करता था, विलापी अंक में तुझ को पवन ॥

खिल गया जब पूर्ण तू मजुल नुकील पुष्पवर ।

लुब्ध मधु के हेतु मंडराते लगे आने अमर ॥

स्निग्ध किरणें चन्द्र की तुझको हँसाती थी सदा ।
रात तुम पर वारता थी मोतियों की सम्मदा ॥
लोरियाँ गा कर मधुप निद्रा-विवश करते तुम्हें ।
यत्न माली के रहे आनन्द से भरते तुम्हें ॥

कर रहा अठखेलियाँ इतरा सदा उद्यान में ।
अन्त का यह दृश्य आया था कभी क्या ध्यान में ?
सो रहा तू अब धरा पर शुष्क बिखराया हुआ ।
गन्ध-कोमलता नहीं मुख मंजु मुरझाया हुआ ॥
आज तुझको देख कर चाहक भ्रमर घाता नहीं ।
लाल अपना राग तुझ पर प्रातः वरसाता नहीं ॥
जिस पवन ने अंक में ले प्यार था तुझ को किया ।
तीव्र झोंके से सुला उसने तुम्हें भू पर दिया ॥

कर दिया मधु और सौरभ दान सारा एक दिन ।
किन्तु रोता कौन है तेरे लिये दानी सुमन ?
मत व्यथित हो फूल ! किसको सुख दिया संसार ने ?
स्वार्थमय सब को बनाया है यहां करतार ने ॥
विश्व में हे फूल ! तू सब के हृदय भाता रहा ।
दान कर सर्वस्व फिर भी हाथ हर्पाता रहा ॥
जब न तेरी ही दशा पर दुःख हुआ संसार को ।
कौन रोएगा सुमन ! हम संमनुज निस्सार को ?

दीपक से—

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल

युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर !

सौरभ फैला विपुल धूप बन;
 मृदुल मोम सा दल रे मृदु तन;
 दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,
 तेरे जीवन का ऋणु गल गल !
 दलक-पुलक मेरे दीपक जल !
 सारे शीतल कोमल नूतन,
 माँग रहे तुझ से ज्वाला-करण,
 विश्व-शलभ सिर धुन बहता 'मैं'
 हाय न जल पाया तुझ में 'मैं'
 सिहर-सिर मेरे दीपक जल !
 जलते नभ में देख असंख्यक,
 स्नेह-दीन नित कितने दीपक,
 जलमय सागर का उर जलता ।
 दिद्युन ले घिरता है बादल !
 विहँस-विहँस मेरे दीपक जल !
 मेरी निश्वासों से द्रुततर,
 सुभग न तू बुझने का भय कर,
 मैं अञ्जल की ओट किए हूँ;
 अपनी मृदु पलकों से चञ्जल !
 सहज-सहज मेरे दीपक जल !
 सीमा की लघुता का बन्धन,
 है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन;
 मैं दृग के अक्षय कोपों से,
 तुझ में भरती हूँ आँसू-जल !
 सजल-सजल मेरे दीपक जल !
 तम असीम तेरा प्रकाश चिर;
 खेलेंगे नव खेल निरन्तर;

तम के अणु-अणु में विद्युत्-सा,
अमिट चित्र अङ्कित करता चल !
सरल-सरल मेरे दीपक जल !

उत्तमन—

अलि कैसे उनको पाऊँ ?
वे आँसू बन कर मेरे,
इस कारण दुन दुल जाते,
इन पलकों के बन्धन में,
मैं बांध बांध पड़ताऊँ ।
मेघों में विद्युत् सी छबि,
उनकी बन कर मिट जाता;
आँवों की चित्रगटी में,
जिसमें मैं आँक न पाऊँ ।
वे आभा बन खो जाते,
शशि-किरणों की उत्तमन में
जिसमें उनको कण वण में
दूँ दूँ पहिचान न पाऊँ ।
सोते सागर की धड़कन—
बन लहरों की थपकी में,
अरनी यह करुण कहानी,
जिसमें उनको न सुनाऊँ ।
वे तारक बालों की,
अपलक चितवन बन आते;
जिसमें उनकी छाया भी,
मैं छ न सक अकलाऊँ ।

वे चुपके से मानस में
आ छिपते उच्छ्वासों बन;
जिसम उनको साँसों में,
देखूँ, पर रोक न पाऊँ।

वे स्मृति बन कर मानस में,
खटका करते हैं निशि दिन;
उनकी इस निष्ठुरता का,
जिसमें मैं भूल न जाऊँ।

गीत—

आज क्यों तेरी वीणा मौन ?

शिथिल शिथिल तन थकित हुए कर;
स्पन्दन भी भूला जाता उर;

मधुर कसक सा आज हृदय में
आन समाया कौन ?

आज क्यों तेरी वीणा मौन ?

भुकती आती पलकें निश्चल;
चित्रित निद्रित से तारक चल;

सोता पारावार हगों में
भर भर लाया कौन ?

आज क्यों तेरी वीणा मौन ?

बाहर घन तम, भीतर दुख-तप;

नभ में विद्युत तुझ में प्रियतम;

जीवन पावस-रात बनाने

सुधि इन छाया कौन ?

आज क्यों तेरी वीणा मौन ?

हरिकृष्ण 'प्रेमी'

इन का जन्म सम्बत् १८६५ में गुना (ग्वालियर) में हुआ था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय स्कूल में हुई। एन्ट्रेंस की परीक्षा इन्होंने मुरार हाई स्कूल से पास की और उसके बाद कालेज-शिक्षा के लिए वे विक्टोरिया कालेज लारकर में दाखिल हुए। कालेज पहुँचने के समय तक इनके हृदय में काव्य करने की प्रवृत्ति बहुत ज़ोर पकड़ चुकी थी। आठों पहर इन्हें कविता करने की ही धुन लगी रहती थी। इसी से कालेज की पढ़ाई में इनका मन नहीं लगा और यह कालेज छोड़ने पर विवश हो गए। अथ तो काव्य इनके जीवन का एक प्रमुख अंग बन गया है। दुःखों से विश्रान पाने के लिए उसे अचूक साधन समझते हैं। आजकल ये बम्बई में परिश्रम से साहित्य-सेवा का कार्य कर रहे हैं।

युग की परिस्थितियों ने 'प्रेमी' जी का बहुत साथ नहीं दिया। जीवन के उषा काल में ही इनके सुख-स्वप्नों का उपहास आरम्भ हो गया था। ये अभी दो वर्ष के थे कि इनकी माता का देहान्त हो गया। उसी दिन से लेकर आज तक इन्हें संसार के अनेक घात-प्रतिघात सहन करने पड़े हैं। इनके अपने शब्दों में इनके जीवन-काल में कई बार ऐसे क्षण आए हैं जब इन्हें अपना अस्तित्व भी असह्य प्रतीत हुआ। स्वाभाविक तौर पर इन स्थितियों का इनके काव्य पर गहरा प्रभाव पड़ा है। दुःखों के अंचल में पले हुए हृदय में शून्यता निराशा और वेदना के भावों का पैदा हो जाना स्वाभाविक है, और यदि ऐसा हृदय अभाव के क्षणों में अदृश्य के प्रति आत्म निवेदन कर अपने दुःख के संसार से मोक्ष पाने का यत्न करता है, तो इसमें आश्चर्य

नहीं। प्रेमी जी के वेदनामय करण काव्य की ओर छायावादी रचनाओं की यही कहानी है। इनके काव्य में भावना, अनुभूति और कल्पना का सुन्दर सम्मिश्रण है। भाषा की सरलता और स्वाभाविकता इस की विशेषता है।

कविता के अतिरिक्त इन्होंने उच्च कोटि के अनेक नाटक भी लिखे हैं उनमें कई एक खेले भी गए हैं। इनके नवीनतम सामाजिक नाटकों में युग की कतिपय समस्याओं पर अच्छा सहायक प्रकाश डाला गया है। इनमें अभाव-प्रस्तर श्रमिकों और हृदय-हीन पूंजीवादियों के स्वाभाविक संघर्ष का हृदयस्पर्शी चित्रण है।

इनकी मुख्य रचनाएँ ये हैं:

काव्य—आँखों में, जादूगरनी, अनंत के पथ पर, अग्निगान, रूपदर्शन आदि।

नाटक—रक्षा-बन्धन, पाताल-विजय, शिवा-साधना, प्रतिशोध, रवण-भंग, दया, बन्धन आदि।

दंखी की पीड़ा—

(१)

पंखी एक पड़ा था पथ पर जिसमें बाकी कुछ जीवन था ।
कवि ने उठा लिया, दुनराया, उसकी आँखों में सावन था ।
सदसा पलकें खोलीं पंखी ने पंखों में गति-सी आई ।
कवि मुसकाया, उसकी आँखों में संताप दिया दिखलाई ।

नीरव जयनों ने दंखी के ?
कहा कि 'तुम कैसे मानव हो
मुझे प्यार करने में अपना
समझ रहे तुम क्यों गौरव हो ?'

(२)

“गीतों के निर्भर कोमल कवि, मेरे पास भला क्यों आए ?
मुझ को भी गाना आता है पर मैंने वे गीत भुलाए !
भुला दिया दुनिया ने मुझ को, मैंने उसकी भूल भुलाई ।
मुझे पुनः जीवित कर तुमने फिर से मेरी मोत बुलाई ।

दिल दुखता है, कवि मत पूछो,
मुझ से जीवन का अफसाना ।
अगर सुनोगे तो भय मुझ को
भूलोगे तुम अपना गाना ।

(३)

“तुम व्याकुल हो, मुझे विसु-य-मा पथ पर पड़ा देख एकाकी ।
 पृष्ठ रहे हो, ‘नहीं रहा क्या, आज तुम्हारा घर भी चाकी ।’
 मेरी वाणी सूख गई है, मेरे अश्रु जल चुके सारे ।
 कवि, न तुम्हारी तरह देखता दिन में आसमान के तारे ।

मुझ से अब अपनी साँसों का
 बोझा उठता नहीं उठाए ।
 अब वह यौवन कहाँ कि शशि का
 चुम्बन लेने मन ललचाए ।

(४)

“मैंने कभी नहीं गाए हैं इस दुनिया में राम के गाने ।
 साँझ-संधरे हंड़ा करता था सुख से लबरेज तराने ।
 मैं संतोषी भोला पंखी चुग लेता था पथ के दाने ।
 सरिता का जल पी लेता था, मुझे चाहिए थे न खजाने ।

जग ने ऊँचे महल बनाए,
 पर मैंने कुछ बुरा न माना ।
 फिर उसको क्यों अखरा मेरा
 किसी डाल पर नीड़ बनाना ।

(५)

“मैं औ’ मेरी विहगी रानी, एक-एक तिनका ला-लाकर,
 सुखद बसेरा बना सके थे कितने ही दिन-रात लगा कर ।
 पर मनुष्य को बुरा लगा यह, क्यों उपवन में नीड़ बनाया ।
 एक सनक आई क्षण भर में उसने मेरा महल गिराया ।

तोप नहीं थी पास हमारे
हमने सब चुपचाप सह लिया ।
दानों ने झाँखों आँखों में
कइना था, चुपचाप कइ लिया ।

(६)

“क्या मानव, क्या विहग जगत् पर है अधिकार समान सभी का ।
जिस में प्यारे फूल सजाए प्रभु ने वह उद्यान सभी का ।
हमें नहीं भाया उद्यन का वास छोड़ कर वन को जाना ।
वैसे तो वन के वासी हैं, पर मानव का हुक्म न माना ।

अखिल विश्व अधिवास हमारा,
जहाँ करे जी नीड़ बनावें
क्यों मानव के बंदी बनकर,
बैठें, उठें, हँसें या गावें ।

(७)

“हमने पुनः परिश्रम करके वहीं दुबारा नीड़ बनाया ।
जब मानव आया तब उसका ध्यान खींचने गाना गाया ।
वह था शक्तिमान उसको भी अगन्ता यह अपमान न भाया ।
लौट पड़ा आँखें तरेर कर, फिर पिरतौल उठाकर लाया ।

मैं दाने लेने निकला था,
विहगी रही अकेली भोली ।
उसकी नन्ही जान भुन गई
लगते ही मानव की गोली ।

(८)

“पंख थक गए अब मेरे भी, जीवन में अब जान नहीं है ।
जिसमें साँसें उलझ रही थीं, मेरा वह सामान नहीं है ।
वक्त बदलते दुनिया बदली, स्वजनों में सम्मान नहीं है ।
अब मरु से कहते हैं, 'पागल, तुम से तो पहचान नहीं है' ।

सूने पथ पर पड़ा हुआ था,
घर का नाम-निशान नहीं है ।
मैं एकाकी मेरा जग में,
आज किसी को ध्यान नहीं है ।

(९)

कभी सोचता था मैं मन में गीतों का आकाश बना लूँ ।
मैं उसाइ-सुग को पीकर पतझड़ को मधुमास बना लूँ ।
मेरे पंख तड़पते रहते जीवन को उच्छ्वास बना लूँ ।
सदा हृदय चाहा करता था शशि को अपने पास बना लूँ ।

वे सरने सर्व स्वप्न हो गए,
कैसे अपनी साँस संभालूँ !
जहाँ न जाय किरण आशा की
क्यों न वहीं अधिवास बना लूँ ।

(१०)

कवि ने कहा कि “सब है दुनिया जलती हिंसा की ज्वाला में ।
भेद नहीं है, आज सर्प में और गले की वरमाला में ।
आज स्वजन ही गला काटते, किससे बचकर चलें यहाँ पर ?
सभी जगह तलवार तन रही बच कर जावें कदो कहाँ पर ?

नित्य नए शस्त्रास्त्र बन रहे,
है भयभीत सभ्यता सारी।
पंखी, केवल तुम पर ही क्या,
आज विश्व पर विपदा भारी।

(११)

“जब से स्वार्थ घुमा घाणों में हिंसा नस-नस में है छाई।
भाई के लोहू का प्यासा आज दिखाई देता भाई।
पंखी नीड़ तुम्हारा ही क्या, सभी गरीबों के घर लुटते।
आज मानवों को खाने को दो दाने भी सहज न जुटते।

पर यह सब कृत्रिम उबाल है,
इसका दौरा चल न सकेगा।
हिम्मत मत हारो यह जग फिर
प्रेम-पन्थ का ओर मुड़ेगा”।

—

रक्षा-बन्धन—

(१)

बहन बाँध दे रक्षाबन्धन मुझे समर में जाना द ।
अब के घन-गर्जन में रण का भीषण छिड़ा तराना है ।
दे आशीष, जननि के चरणों में यह शीश चढ़ाना है ।
बहन, पोंछ ले अश्रु, गुलामी का यदि दुःख मिटाना है ।

अन्तिम बार बाँध ले राखी,
करले प्यार आग्विरी बार।
मुझको जालिम ने फाँसी की
डोरी कर रखी तैयार।

(२)

रक्षा, रक्षा कायरता से, मर मिटने का दे वरदान ।
हृदय-रक्त से टीका कर दे, कर मस्तक पर लात निशान ।
वह जीवन का स्रोत आज कर मेरे मानस में सचार ।
काँप न जाऊँ देख समर में रिपु की विजली-सी तलवार ।

अपना शीश कटा जननी की
जय का मागो बनाना है ।
बहन, बाँध दे रक्षा-बन्धन
मुझे समर में जाना है !

(३)

जिसने लाखों लज्जनाओं के पोंछ दिए सर के सिंदूर ।
गड़ा रहा कितनी कुटियाओं के दीपों पर आँखें क्रूर ।
बज्र गिरा कर कितने कोमल हृदय कर दिए चकना चूर ।
उस पापी की प्यास बुझाने, बहन, जा रहे लाखों शूर ।

मृत्यु विटप की शाखा पर मैं
डाल हिंडोला भूलूँगा ।
दो पैरों में अमर लोक की
अन्तिम सीढ़ी चूमूँगा !

(४)

बहन, शीश पर मेरे रख दे स्नेह-सहित अपना शुभ हाथ ।
कटने के पहले न भुके यह ऊँचा रहे गर्व के साथ !
उस हत्यारे ने कर डाला, अपना सारा देश अनाथ !
आश्रयदीन हुई यदि तू भी, ऊँचा होगा तेरा माथ !

दीन भिखारिन बन कर तू भी
गली-गली फेरो देना !
उठो बन्धुअरे, विजय-वधू को
वरो, तभी निद्रा लेना !

(५)

आज सभी देते हैं अपनी बड़नों को अमूल्य उपहार !
मेरे पास राखा ही क्या है आँखों के आँसू दो-चार !
ला, दो-चार गिरा दूँ, आगे अपना अंचल विमल पसार !
तू कहती है, 'ये मणियाँ हैं' इन पर न्योझावर संतार !

बहन, बड़ा दे चरण-कमल मैं
अन्तिम बार उन्हें लूँ भूम ।
तेरे शुचि स्वर्गीय स्नेह के
अमर नशे में लूँ अब भूम ।

(६)

जिस कर में अब बाँध रही है तू अपनी राखी के तार,
उमे हृदय पर रख देना तू मुझे चिता पर रखती बार !
'मृत्यु गुलामी से सुन्दर है, कायरता से शुभ संहार !
अपनी राखी के तारों में, बहन, यही भर दो भंकार !

कभी इसी राखी के धागे,
पर कट गए हज़ारों शीश !
इस धागे की लाज रखूँगा
दे बहना, मुझको आशीष !

गीत—

अविरत पथ पर चलना री !

गति जीवन का चरम लक्ष्य है,
विरति, मुक्ति, सब छलना री !
अविरत पथ पर चलना री !

'रण में सहसा मरण' महत है,
पर क्या वह जीवन का 'सत' है ?
जीवन तो बलि-पथ शाश्वत है
अणु-अणु कर के गलना री !
अविरत पथ पर चलना री !

सरल, चिता-शय्या पर सोना,
कठिन दुःख सहना—सब खोना,
मिट जाना, पर विकल न होना !
तिल-तिल करके गलना री !
अविरत पथ पर चलना री !



शब्द-कोश

पृष्ठ संख्या

कवीर

- ३ पारस—एक प्रकार का पत्थर
जिसके स्पर्श से लोहा सोना
हो जाता है ।
सांकरी—तंग ।
- ४ कुरङ्ग—वृग ।
वार—देरी ।
- ५ खेह—धूलि ।
केरा—केला ।
- ६ नारी—स्त्री, नाड़ी ।
- ७ हाड—हड्डी, शरीर ।
स्वान—कुत्ता ।
- ८ पैठि—प्रविष्ट हो, घुस कर ।
गाडर की ठाट—भेड़ों की
कतार ।
- ९ लाहे—लाभ ।
सबूरी—सन्तोष ।
- १० पैसि—घुसकर ।
- सूरदास
- १३ सरिता—नदी ।
मैन—कामदेव ।
तड़ित—बिजली ।

पृष्ठ संख्या

- बोरत—डूबते ।
विरद—यश ।
रविसुत-त्रास—यमराज का
भय ।
- १४ अघ-मोचन—पापों से मुक्त
करने वाला ।
खर—गधा ।
अरगजा—सुगन्धित पदार्थ ।
मरकट—वानर ।
पाहन—पत्थर ।
निपंग—तरकश ।
- १५ अम्बुज—कमल ।
नवनीत—मक्खन ।
रेनु—धूलि ।
मधुप—भ्रमर ।
केहरि—सिंह ।
- १६ लकुटि—लकड़ी ।
मौंडा—(पंजाबी मुण्डे)
बालक ।
- १७ चवाई—निन्दा करने वाला ।
- १८ पुरवौ—परी करो ।
रूप रस-रांची—रूप देखने
में लीन ।

पृष्ठ संख्या

भूखी—खीनी ।

बारक—एकबार

पतूखी—पत्तों का दोना ।

सुरभी—धेनु, गाय ।

अलि—भ्रमर ।

विहंगम—पक्षी ।

१६ पनारे—धाराएँ, परनाले ।

जल-सुत—कमल ।

सारङ्ग—मृग ।

तुलसीदास

२२ अवनि—पृथ्वी ।

भङ्ग—झाड़ा, अन्धेरा ।

कत—क्यों ।

अपजस—बदनामी ।

भाजन—पात्र ।

२३ बहुरि—फिर ।

बच्छु—वत्स, प्रिय ।

आयसु—आज्ञा ।

२४ कुलिश—वज्र ।

गाइगोट—गोशाला ।

माहुर—विष ।

पातक—पाप ।

२५ पिसुन—चुगुलखोर ।

पर-दाग—दूसरे की स्त्री ।

बंचक—भोखा देने वाला

पृष्ठ संख्या

काय—शरीर ।

२६ विधु—चन्द्रमा ।

बारिचर—बादल ।

वरु—भले ही ।

वयरु—वैश्य ।

मुखरु—वाचाल, बहुत

बोलने वाला ।

२७ प्रपंचरत—कपटी ।

वैपानस—तपस्वी ।

सुअन—सुत्र ।

वार्द—व्यर्थ ।

रजायसु—आदेश, आज्ञा ।

फुर—सफल ।

२८ विरहागी—विरह, वियोग
की आग ।

प्रवाना—प्रमाण ।

भूपरजाई—राजा की आज्ञा ।

अमरपति-अयन—इन्द्र का
स्थान अथवा स्वर्ग ।२९ मनुज-अनुहारी—मनुष्यका
अनुकरण करके अर्थात्
मनुष्य की तरह ।

विपिन—वन ।

आतप—धूप ।

सहादर—सगा भाई ।

पृष्ठ संख्या

- ३० छति (तृति)—वमी ।
 राजिव-दल—कमल-पत्र ।
 उद्गाहु—उसाह, आनन्द ।
 पर्नसाल—पर्णशाला, भांपदी ।
 ३१ अमियहु—अमृत से ।
 अबक—नेत्र ।
 डिम—बालक ।
 पांवड़े—पांव फाड़ने का वस्त्र,
 पायंदाज ।
 पखारि—धोकर ।
 ३२ 'सहात—रोमांचित ।
 अचई—आचमन ।
 मंजु—सुन्दर ।
 किरातिनि—भीलनी ।
 प्रनति—विनय ।
 ३३ मसि—स्याही ।
 मनुजाद—राक्षस ।
 ३४ चरारि—चपलता से, तेज़ी
 से ।
 दादुर—मैंदक ।
 रहीम
 ३७ अमी—अमृत ।
 ३८ पयान—फूच ।
 चूना—चूना ।
 विषान—सींग

पृष्ठ संख्या

- अथवत—अस्त होना ।
 ३६ बापुरो—बेचारा
 ४० केरू—केरा ।
 तरैयनि—तारागण ।
 अधाय—वृष होते हैं ।
 ४१ गुन—गुण, रस्सी ।
 मही—मट्टा ।
 गाय—छिपाकर ।
 ४२ असन—भोजन ।
 तोइ—तोय, जल ।
 रीतिहि—खाली होने पर ।
 भेपज—दवाई ।
 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
 ४५ करार—किनारे ।
 पराछित—प्रायश्चित्त ।
 ४६ वही—हिसाब-किताब लिखन
 की कापी ।
 पोहति—पिरोती है ।
 सोपान—सीढ़ी ।
 सरवस—सर्वस्व ।
 ऐरावत—इन्द्र के हाथी का
 नाम है ।
 ४७ अंकम—गोदी से ।
 जोहत—देखते ही ।

पृष्ठ संख्या

करि साका—शाक्त स, जोर से ।

तरनि तनूजा—य—ना ।

मुकुर—शीशा ।

गामा—अंकुर ।

बगरे—बिखरे, फैले हुये ।

४८ अभा—आभा, रौनक ।

पवन-गवन-वस—पवन
चलने से

पारावत—कबूतर ।

कारण्डव—रत्न ।

रचि द्रुत—रत्ना किया हुआ ।

सिच्छिन्ना—सीखा हुआ ।

४९ अवनीसा—राजा ।

विधना—विधाता ।

५० विनार्ई—घृणा करना ।

आगर—घर ।

५४ कमलिनीकुल-वल्लभ—सूर्य ।

विनिमज्जित—झूठी हुई ।

५५ समवेत—इकट्ठी ।

५६ वयस्क—युवक ।

५७ कवुभ—दिशा ।

कदुन—विनाश ।

नलिनीश—सूर्य ।

५८ लवर—ज्वाला, जपट ।

उरुठे—सूखे ।

सोत—झोत, करना ।

५९ खगालेंगे—साक कर देंगे ।

६२ कौर—ग्रास ।

मैथिलीशरण गुप्त

६६ शुल्क—क्रीस ।

अकिञ्चन—गरीब ।

६७ साम्प्रतिक—आजकल की

६८ मेखला—कटि-सूत्र ।

रत्नाकर—समुद्र ।

पयोद—बादल ।

७० तराणि—सूर्य ।

सुधोपम—अमृत के सदृश ।

७१ त्राण—रत्ना ।

७२ स्तरशर—तेज बाण ।

आखेटक—शिकारी ।

७४ नुपार—कुहरा

७६ श्रीखण्ड—चन्दन ।

वैतरणी, वरुणा—नदियों
के नाम हैं ।

७७ पंकिला—कीचड़ वाली,
कलंकिनी ।

७९ प्रगति—उन्नति ।

८० सत्त्व—बल ।

जयशंकर प्रसाद

८३ सैनप—सेनापति ।

८४ परिणीता—विवाहिता ।

पृष्ठ संख्या

कणधार—नाविक ।

८५ सरसिज—कमल ।

क्रिजल्क—पुष्परस ।

८६ विरज—रजोगुण से रहित ।

विशोक—शोक से रहित ।

सुदिन-मणि-वलय—सूर्य ।

निराह—भोल ।

८८ अहमिति—अहंकार ।

सूर्यकान्त त्रिपाटी 'निराला'

९१ प्रसून—पुष्प ।

चतुर्दिक्—चारों दिशाओं में ।

९४ अवसान—विनाश, समाप्ति ।

९५ उन्मन—आतुर, व्याकुल ।

सुमित्रानन्दन 'पन्त'

१०३ भय मछली ।

दुःख-विधुरा—दुःख से

व्याकुल ।

सियारामशरण गुप्त

१०७ क्षिति—पृथ्वी ।

उत्तुङ्गकाय—बड़ी देह वाला ।

१०८ अन्तराय—विघ्न ।

गह्वर—गुहा ।

१०९ दुर्धर—प्रबल ।

११० अशनि—यज्ञ ।

१११ कृतांत—यमराज ।

विभ्रंस—नाश ।

पृष्ठ संख्या

उदयशङ्कर भट्ट

११६ आलोक—प्रकाश ।

विधु—चन्द्रमा ।

१२० छोर—किनारा ।

अभिव्यक्ति—प्रकाशन

गुलफट—उलझन की गाँठ ।

१२२ रजनी—रात्रि ।

आलव—मादक द्रव ।

दावानल—अग्नि (वन की आग)

नियति—भाग्य, विधाता ।

१२३ रूढ़ि—प्रथा ।

गरल—विष, जहर ।

१२४ अल्हड़पन—भोलापन ।

१२५ समय—मुसकान ।

कंगूरा—शिखर ।

१२७ रिक्त—खाली ।

आगत—भविष्य ।

१२८ खगोल—आकाश-मण्डल

ईति—समाप्ति, अन्त ।

अथ—आरम्भ ।

हरिकृष्ण प्रेमी

१३६ लवरेज—भरा हुआ ।

विदगी—स्त्री-पक्षी ।

१४१ मधुमास—बसन्त ।

१४२ जुटते—प्राप्त होते ।

१४५ अविरत—निरन्तर ।

शाश्वत—नित्य ।

